पत्र-पात्र

लेखक

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी बी० ए०

प्रकाशक

साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग

समर्पण

स्वर्गीय

लाल राजबहादुर सिंह

दो शब्द

हिन्दी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक श्रीयुत पदुम लाल पुन्नालाल बख़्शी की 'पञ्च-पात्र' नामक पुस्तक हिन्दी-साहित्य मर्मज्ञों की सेवा में उपस्थित कर सकने का यह सुअवसर साहित्य-भवन लिमिटेड को प्राप्त हुआ है।

'साहित्य-भवन' लिमिटेड के लिए यह बड़े गौरव की बात है। बख़्शी जी के सम्बन्ध में इस जगह कुछ कहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनकी विद्वत्ता, उनकी रचना-कुशलता और उनकी विचार-गम्भीरता से हिन्दी संसार भली भाँति परिचित है। 'पञ्च-पात्र' में बख़्शी जी की सरस रचनाओं के नमूने संग्रहीत हैं।

पञ्च-पात्र में, जैसा उनके नाम से ही प्रगट हो जाता है, पाँच अङ्ग हैं—पहले में पद्य, दूसरे में आख्यायिका, तीसरे में साहित्य, चौथे में समाज-समस्या और पाँचवें में संकट या पञ्चरात्र है। बख़्शी जी कवि हैं और उच्चकोटि के समालोचक, साहित्य मर्मज्ञ और समाज-तत्त्व के ज्ञाता हैं। वे जिस कुशलता से सामाजिक विषयों की विवेचना कर सकते हैं उसी कुशलता से गम्भीर विषयों पर सरस संलाप भी लिख सकते हैं।

'पञ्च-पात्र' में बख़्शी जी की सर्वतोमुखी रचना-शक्ति का परिचय देने के लिए, मेरी राय में उनके लेखों का यह सुन्दर संग्रह किया गया है। जहाँ एक ओर इस पुस्तक के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बख़्शी जी भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे साहित्य में नवीन स्फूर्ति, नवीन जीवन, निर्म्मित करने की उनमें योग्यता है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि 'पञ्च-पात्र' के प्रचार से बख़्शी जी के प्रति हिन्दी संसार में श्रद्धा की और भी अधिक वृद्धि होगी।

जो हिन्दी-प्रेमी चाहते हैं कि हिन्दी भाषा में निरन्तर ऐसे साहित्य का निर्म्माण हो जिससे कि शीघ्र ही हिन्दी साहित्य भी संसार के समुन्नत साहित्यों में गिना जाने लगे उन्हें बख़्शी जी का यह पञ्च-पात्र देखकर अवश्य सन्तोष होगा।

ब्रजराज
एम० ए० बी० एस० सी
एल० एल० बी
भूतपूर्व-मन्त्री, साहित्य भवन
लिमिटेड

प्रयाग
आश्विन कृष्ण दशमी
संवत् १९८४

———

पञ्च-पात्र

१—पद्य

२—आख्यायिका

३—साहित्य

४—समस्या

५—पञ्चरात्र

पद्य

१—पदार्पण

तमोमय था सारा संसार,
आगये कैसे करुणागार !
तड़ित करती थी उग्र विलास,
मेघ देता था सब को त्रास,
प्रकृति लेती थी दारुण श्वास,
जगत करता था हाहाकार,
आगये कैसे करुणागार ॥ १ ॥

नदी बहती कर गर्जन घोर,
प्रबल मारुत देता झकझोर,
तरङ्गें लेतीं चण्ड हिलोर,
हुए तम में तुम कैसे पार,
आगये कैसे करुणागार ॥ २ ॥

नहीं यह गगनस्पर्शी धाम,
दीप्तिमय रत्नों से अभिराम,
जहाँ प्रभु ले सकते विश्राम,
दैन्य-दुःख छाया यहाँ अपार,
आगये कैसे करुणागार ॥ ३ ॥

रुद्ध था कारागृह का द्वार,
हृदय में लेकर चिन्ता-भार,
वहाँ बैठा था किसी प्रकार,
जहाँ था नहीं वायु-संचार,
आगये कैसे करुणागार ॥ ४ ॥

तुम्हारा सहसा हुआ प्रवेश,
देखकर अपना कुत्सित भेष,
मुझे अब होता है अति क्लेश,
नाथ, यह तो है अत्याचार,
आगये कैसे करुणागार ॥ ५ ॥

२—निशा-काल

हुआ जीवन का संध्या काल ।
फैलने लगा तमिस्रा-जाल ॥
क्रीड़ा करती थी भू-तल पर ,
हुई ज्योति वह क्षीण ।
अन्त-हीन विस्तृत था सागर ,
उसमें हुई विलीन ॥
जगत का बन्द हुआ व्यापार ।
किया तुम ने उसका संहार ॥
भय-विह्वल हो जग ने सोचा ,
अब क्या होगा हाल ।
क्षण क्षण बढ़ती ही जाती है ,
यह छाया विकराल ॥
हृदय में फैला यह आतङ्क ।
चराचर सब हो गये सशङ्क ॥
उदित निशाकर हुआ गगन में ,
चौंक पड़ा संसार ।
अपनी विमल ज्योति से उसने,
किया सुधा-सञ्चार ॥
प्रभा उसकी तो थी निष्पाप ।
नहीं था उसमें वह उत्ताप ॥
उसकी शीतल छाया में ही
दूर हो गया त्रास ।
तम में लुप्त सुधाकर है
यह था किसको विश्वास ॥

३—कृषक

राज्य उसका है यह कान्तार।
वहीं वह करता सदा बिहार॥
जरा जीर्ण, वैभव-विहीन
है उसका पर्ण-कुटीर।
किन्तु निरत उसकी सेवा में
रहता नित्य समीर॥

सूर्य करता उसका शृङ्गार।
करों से रञ्जित करता द्वार॥
जब मध्याह्न-काल में
रवि का होता उग्र प्रताप।
तब उसका श्रम हर लेती है
तरु-छाया निष्पाप॥

विश्व का है उस पर ही भार।
तभी अक्षय उसका भाण्डार॥
निशा-काल में पृथ्वी उसको
देती अपना अङ्क।
फैलाता अनन्त नभ अञ्चल,
सोता वह निश्शङ्क॥

चन्द्र करता अमृत-सञ्चार।
शान्ति का कर देता विस्तार॥
ग्रीष्म-काल की ज्वाला हो
या जल का धारापात।
कभी शिथिल होता है उसका।
क्षण भर भी क्या गात॥

जगत का करता वह उपकार ।
जानता है क्या यह संसार ॥
कर कर्तव्य पूर्ण वह
जग से जाता है चुपचाप ।
मूढ़ जगत को दुख क्या होगा,
करती प्रकृति विलाप ॥

अश्रुओं का यह अक्षय हार ।
उसी का है अन्तिम उपहार ॥

४—सार्थकता

नीच कुल में हो जिसका जन्म,
पङ्क से हो जिसकी उत्पत्ति।
सत्य, यदि हो पङ्कज श्री-धाम,
तुम्हारी ही है इसमें शक्ति ॥ १ ॥
तुम्हीं से पाया वह अनुराग,
हुआ जिससे अतिरञ्जित पद्म।
तुम्हारे ही कर का था स्पर्श,
किया आमोदित जिसने सद्म ॥ २ ॥
तुम्हारा ही मधुमय उपहार,
हुआ है उसके अन्तर्लीन।
नहीं उसकी अपनी कुछ वस्तु,
जन्म से ही वह तो है दीन ॥ ३ ॥
उच्च पद देकर महिमा-वृद्धि,
तुम्हीं ने उसकी की है आज।
नीच पद में उसको क्या हानि;
तिरस्कृत होने में क्या लाज ॥ ४ ॥
हृदय पर जब तक उसका स्थान,
हरेगा ही वह अन्तस्ताप।
दलित होकर भी निस्सङ्कोच,
करेगा सुरभित पद चुप चाप ॥ ५ ॥
उसे आदर से होगा हर्ष,
निरादर से भी है सन्तोष।
सत्य, है उसका यही स्वभाव,
अन्य हों चाहे कितने दोष ॥ ६ ॥

५—रहस्य

अन्धकार में दीप जलाकर
किसकी खोज किया करते हो।
तुम खद्योत क्षुद्र हो, तब फिर
क्यों तुम ऐसा दम भरते हो ॥

हाहाकार जगत करता है,
तो भी उससे क्या होता है।
पवन अहर्निशि शान्त नहीं है,
वह निश्चिन्त सदा सोता है ॥

नभ में ये नक्षत्र आज तक
घूम रहे हैं उसके कारण।
उसका पता कहाँ है, किसको
होगा यह रहस्य उद्घाटन ॥

हम हैं क्षुद्र, जानते हैं हम,
जग में हमको सब हँसते हैं।
पर तम में वह श्याम-रूप हैं,
जिसकी आशा में मरते हैं ॥

निराकार गुण-दोष-रहित वह
फैला है सर्वत्र व्याप्त कर।
उसके ही आश्रय में सब को
मिल जाती है शान्ति मनोहर ॥

६—अनुरोध

प्रभो तुम कब होगे गुणवान।
निर्गुण ही तुमको कहते हैं
जग के सब विद्वान्॥

भले-बुरे का ज्ञान नहीं है,
नीचों की पहचान नहीं है,
तुम में कुछ अभिमान नहीं है,
सब में एक समान॥

निराकार हो रूप छिपाते,
अन्तर्यामी होकर आते।
सम्मुख होने में भय पाते,
तुम हो नाथ महान॥

विश्वम्भर तुमको सब कहते,
लक्ष्मी-पति भी बनकर रहते।
फिर दीनों से स्नेह जोड़ते,
है इसमें अपमान॥

सबकी विनय यही है, प्रभुवर।
अपना माया-जाल तोड़ कर
एक बार इस अवनी तल पर
आओ, हे भगवान्॥

७-बुद्धदेव के प्रति

भगवन्, यह कैसी है रीति।
तुम हो यतिवर, ऐसी हमको
होती नहीं प्रतीति ॥

कपिलवस्तु था क्षुद्र, हो गया
वह तो तुमको त्याज्य
किया प्रतिष्ठित अखिल विश्व में
आज अचल साम्राज्य ॥

प्रणयी जन थे अल्प, छोड़ दी
तुमने उनकी प्रीति।
जोड़ लिया सम्बन्ध जगत से
यह क्या नहीं अनीति ?

थी विरक्ति तो हुआ तुम्हारा
जग से क्यों अनुराग ?
जग-सेवा कर सेव्य हो गये,
यह कैसा है त्याग ?

छूट गये तुम भव-बन्धन से
यह केवल उपहास।
मानव-हृदय हुआ बन्दीगृह,
वहीं तुम्हारा वास ॥

८—दीप-निर्वाण

किया रवि ने क्षण भर विश्राम.
चन्द्र को देकर अपना धाम।

नभो-देश में चन्द्र-कला का
होने लगा विनोद।
उसकी हास्य-प्रभा देखकर
बढ़ा सभी का मोद॥

कुटी थी कोई शोभा-हीन,
वहाँ चलता था दीप मलीन।

थे इतने नक्षत्र गगन में,
था सब में आलोक।
किन्तु कुटी का हर सकता था
केवल दीपक शोक॥

हुआ जब निशा-काल का अन्त,
आगये नभ में नलिनी-कन्त।

निष्प्रभ हुआ चन्द्रमा लज्जित
होकर किया प्रयाण।
थी कुटीर मे क्षुद्र दीप की
ज्योति-शिखा म्रियमाण॥

बढ़ाकर जीवन किसी प्रकार,
किया रवि का उसने सत्कार।

प्राणों की आहुति से उसने,
किया जगत-कल्याण।
निकली एक मलिन रेखा ही,
हुआ दीप-निर्वाण॥

---

६ — अन्त

किससे प्रेरित होकर मैं
आगे ही बढ़ती जाती हूँ।
क्षण भर भी रुक कर थोड़ी भी
चैन नहीं मैं पाती हूँ ॥

था जब तक उस गिरि का बन्धन,
व्याकुल रहता था मेरा मन।
यही सोचती थी मैं क्षण क्षण,
कब मैं बाहर आती हूँ ॥

छोड़ चुका मुझको जब गिरिवर;
आई नीचे उछल उछल कर,
करती रहती थी मैं झर झर,
अब क्या वैसा गाती हूँ ॥

मन में नहीं उमंग रही अब,
उठती है वैसी तरंग कब।
शिथिल हो गये आज अंग सब।
घोर निराशा पाती हूँ ॥

यह कैसा उठता भीषण रव!
अब क्या होगा हे मेरे भव?
यह क्या? तूही मेरा उद्भव,
तुझ में ही मैं जाती हूँ ॥

१०—कृतघ्नता

चन्द्र हरता है
निशा की कालिमा,
हृदय की देता
उसे है लालिमा ॥

किन्तु होकर लोक-
निन्दा से अशङ्क,
निशा देती है
उसे अपना कलङ्क ॥

११—अविचार

सिन्धु रत्नागार है,
कौस्तुभ दिया तो क्या दिया।
किन्तु उसको आपने
अपना निवास बना लिया॥

पङ्क ने तो कमल ऐसा
रत्न अर्पण कर दिया।
हाय, उसको आपने
इतना मलिन कैसे किया॥

१२—सूखे फूल

तुम भी हो क्या मालाकार ।
मेरे इन सूखे फूलों का
लोगे क्यों उपहार ॥

तुमको तो ऐसे ही फूलों
से रहता है काम ।
जिनके सौरभ से उपवन में
फैल गया है नाम ॥

पर इसमें भी सच जानो
कुछ है रस का आगार ।
होकर सब से दलित
करेगा सुरभित पाद-प्रहार ॥

कोई निगुंण होगा इनको
कर लेगा स्वीकार ।
कर के स्पर्श-मात्र से होगा
यह सुगन्धि-भाण्डार ॥

१३—अज्ञात

कहाँ है नाथ तुम्हारा वास।
खोज फिरा सब देख लिया,
अब मैं हो गया हताश॥

मुझे व्यर्थ-श्रम देख जड़ प्रकृति
करती है उपहास।
पाया जिसका पता नहीं
वह रहता उसके पास॥

प्रातःकाल पवन लाती है
उसका कुछ सन्देश।
मूक प्रकृति को ही कह जाती
है उसका आदेश॥

क्षण भर में तब जड़ में हो
जाता चैतन्य-विकास।
वृक्षों पर विकसित फूलों का
होता हास-विलास॥

हँस हँस कर जल की तरङ्ग
करता सानन्द विहार।
मत्त खगों के कलरव से
भर जाता है संसार॥

फिर मध्याह्नकाल में सब के
सब हो जाते व्यग्र।
मैं बैठे देखा करता हूँ
उसका कार्य समग्र॥

आती है सन्ध्या तब उनका
फ़िर सजता है साज।
नक्षत्रों के साथ गगन में
आते हैं द्विजराज ॥

तब किसकी उपासना में सब
हो जाते निस्तब्ध।
निश्चल होती प्रकृति,
शान्ति सबको होती उपलब्ध ॥

१४—उपालम्भ

तुम निर्गुण हो, मैं गुणहीन।
तुम हो दीनबन्धु—मेरे
भी सब बान्धव हैं दीन॥

तुम हो निराकार,
मेरा भी यदि होता आकार।
तो पड़ जाती दृष्टि जगत् की,
अब तक किसी प्रकार॥

तुम अज्ञेय, तुम्हारी कोई
नहीं जानता बात।
सच कहता हूँ, नाथ,
सभी से मैं भी हूँ अज्ञात॥

तुम सर्वत्र व्याप्त हो,
मेरा है सर्वत्र निवास।
तुम निर्मम हो, तो मेरा भी
अब हो गया विनाश॥

देख लीजिए, प्रभो, नहीं है
हम दोनों में भेद।
तुम विश्वेश्वर, मैं याचक हूँ,
है इसका ही खेद॥

१५--पाप और पुण्य

सन्ध्या हुई, नभो-मण्डल में,
तम का हुआ प्रसार।
मैंने कहा, "पाप से होता,
आवृत है संसार।"

तब चन्द्रोदय हुआ, शीघ्र ही
तम हो गया विलीन।
मैंने सोचा, "नष्ट तभी तो
होते सभी मलीन।"

पर विश्वम्भर का क्या ऐसा
होता वृथा-विचार?
वह करता है नाश, क्या नहीं
करता वह उद्धार?

हुआ चन्द्र तब तक कुछ ऊपर,
पड़ी अचानक दृष्टि
तब मैंने देखी करुणानिधि
की अपूर्व वह सृष्टि।

ज्योतिर्मय के वक्षस्थल में
करता था तम वास।
पाप-लता में पुण्य-पुष्प का
कैसा हुआ विकास।

१६—अञ्जलि दान

आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज।
　　　　क्षण भर में रवि हो गया अस्त,
　　　　तम से भूमण्डल हुआ ग्रस्त,
　　　　तब मैं पूजा में हुआ व्यस्त;
सोचा अब तो होगा अकाज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

　　　　जीवन-पथ में था अन्धकार,
　　　　मन्दिर तक जाऊँ किस प्रकार,
　　　　मैं खड़ा हुआ करता विचार;
आगया वहाँ तब जन समाज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

　　　　भय से मैं तो हो गया चकित,
　　　　मेरे कर से तब हुआ स्खलित,
　　　　सब के चरणों से हुआ दलित;
अब एक फूल है, उसे साज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

　　　　होगा क्या इससे तुम्हें तोष?
　　　　होगा क्या मुझ पर, प्रभो रोष?
　　　　यह है सब मेरा भाग्य-दोष;
पर, रख लो मेरी, नाथ, लाज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

१७—अज्ञात का सत्कार

जीवन में उसका नहीं,
हुआ नाम विख्यात।
हुआ निहत रण-भूमि में,
यह भी किसको ज्ञात॥

क्षण भर भू को कर गया
रञ्जित उसका रक्त।
और नहीं कुछ दे सका
जननी को वह भक्त॥

जग की सेवा में दिया,
उसने अपना प्राण।
पर उसको जग से नहीं,
मिला अल्प भी मान॥

होता है जिस सिन्धु में
प्रतिदिन धारापात?
क्षुद्र विन्दु से हो कहीं
कम्पित उसका गात!

पड़ा जहाँ निरपेक्ष वह,
नाम-गोत्र से हीन।
मैंने देखा, थे वहाँ,
शीत-विन्दु दो तीन॥

प्रति दिन प्रातःकाल दृग
जल का अक्षय हार।
देती जगदम्बा उसे,
यह कैसा सत्कार॥

१८—कालिदास के प्रति

तुम हो कवि-कुल-कुमुद-कलाधर।
उदित हुए साहित्य-गगन में
तुम भारत का मुख उज्ज्वल कर॥

निष्कलङ्क है ज्योति तुम्हारी,
होती जाती वह निर्मलतर।
विश्व-ताप से तप्त हृदय का,
हर लेती सन्ताप निरन्तर॥

भव-सागर में तुमने अपना,
प्रतिभा-जाल फेंक कर कविवर!
खींच लिये सब भाव रत्न अब,
मानव-हृदय हुआ रत्नाकर॥

चिर-विच्छेद-विलाप प्रेम-सुख,
आशा और निराशा का स्वर।
तुमने ही अपनी वीणा में,
सुना दिया भारत को क्षण भर॥

जब भारत में मोह-निशा थी,
जला दिया तुमने तब दीपक।
हुआ दूर तम उससे उसकी,
दीप-शिखा निश्चल है अब तक॥

१६—उलहना

कहो तो यह कैसी है रीति ?
तुम विश्वम्भर हो, ऐसी ,
तो होती नहीं प्रतीति ॥

जन्म लिया बन्दीगृह में ,
क्या और नहीं था धाम ?
काला तुमको कितना प्रिय है ,
रखा कृष्ण ही नाम ॥

पुत्र कहाये तो ग्वाले के ,
बने रहे गोपाल ।
मणि मुक्ता सब छोड़ ,
गले में पहने क्या बनमाल ॥

चोर बने मक्खन के ,
दुनिया हँसती आज तमाम ।
जहाँ देखता, वहाँ तुम्हारा
टेढ़ा, ही है काम ॥

टेढ़ा मुकुट, खड़े रहना भी
टेढ़ा, टेढ़ी दृष्टि ।
टेढ़ेपन की, नाथ, हुई है
तुम से जग में सृष्टि ॥

भाई भाई को लड़वाकर
किया सर्व-संहार।
"लड़लड़" यह उपदेश तुम्हारा !
किया खूब उपकार॥

अब तो कृपासिन्धु ! छोड़ो
यह अपनी टेढ़ी चाल।
देखो तो, जगती का कैसा
हुआ बुरा है हाल॥

२०—आलोक और तिमिर

नाथ, यह कैसा ज्योति-प्रदान।
पल भर में ही मोह-निशा
का हुआ, हाय, अवसान॥

अन्धकार में भले-बुरे का
नहीं हुआ था ज्ञान।
अपने और पराये की
थी ज़रा नहीं पहचान॥

एक रंग में रँग कर सारा
जगत हुआ था एक।
यह निर्मल, वह मलिन,
हुआ था ऐसा किसे विवेक॥

अब तो तेरी दिव्य ज्योति से
हुई तमिस्रा नष्ट।
मुझ ऐसे नीचों को इससे
होता है अति कष्ट॥

अच्छे और बुरे का सब ही
करने लगे विचार।
अधर्मों से तो घृणा सर्वदा
करता है संसार॥

लौटा दो तम, मुझे ज्योति
की कभी नहीं है चाह।
भेद-भाव हो दूर, हृदय की
मिट जावे यह दाह॥

२१—अभिलाषा

यह जग ही है, अथवा लीला-
मय नटनागर का रङ्ग-स्थल।
प्रभुवर, तेरी इस माया से
हो गया मूढ़ संसार सकल॥

जब श्याम घटाओं से आवृत
हो जाता खूब नभोमण्डल।
तब ही क्षण भर में वहाँ प्रकट
हो जाती विद्युज्ज्योति चपल॥

जब खूब पङ्कमय हो जाता है
कासारों का वक्षस्थल।
होता तुरन्त है उदित तभी
उसके भीतर से अमल कमल॥

जब घोर अमावस में शशि का
मैं देख नाश होता विह्वल।
तब उस दिन से ही तू उसको
कर देता अधिकाधिक निर्मल॥

है मृत्यु जहाँ, हो जन्म वहाँ,
हो पाप सिन्धु में सुधा अमल।
तू अन्धकार में ही छिपकर,
कर दे प्रज्वालित प्रेम-अनल॥

२२—आगमन

सुना आगमन प्रभु का ज्योंही,
वह हो गया अधीर।
वह तो विश्वनाथ है, मेरा
है यह क्षुद्र कुटीर।

आसन नहीं, कुटी भी मेरी
है हो गई मलीन।
आवेंगे, तब कहाँ कहूँगा,
प्रभु होवें आसीन॥

हुआ व्यग्र वह, "क्षण में कैसे,
कर दूँ इसे विशुद्ध!"
देख सके कोई मत, इससे
किया द्वार अवरुद्ध॥

बैठा वहीं अँधेरे मे वह,
था चिन्ता मे लीन।
"स्वागत कैसे करूँ नाथ, मै
तो हूँ सब से हीन॥"

इतना कहा, प्रदीप जलाकर,
खड़ा हुआ वह दीन।
चौक पड़ा, देखा तो प्रभुवर,
थे गृह मे आसीन॥

२३—बिखरा फूल

खुला मन्दिर का ज्यों ही द्वार,
किया सब भक्तों ने जय घोष।
देख कर उनका हर्ष अपार,
हुआ क्या प्रभु को कुछ संतोष।

बढ़े सब देने निज उपहार,
छिड़ गया भक्तों में संग्राम।
भेंट किसकी होगी स्वीकार,
हँसे थे तब क्या करुणा-धाम!

परीक्षा थी भक्तों की आज,
और प्रस्तुत ही थे सब भक्त।
बढ़ चला उनका शीघ्र समाज।
रह गये निर्बल और अशक्त।

हुआ जल से प्रभु का अभिषेक।
और फिर फूलों से शृङ्गार।
भेंट तो थी अनुपम प्रत्येक।
मलिन था नहीं एक भी हार।

दब गये फूलों से भगवान्,
छिप गया उनका रूप विराट्।
भक्त की महिमा का कुछ ज्ञान,
हुआ क्या तुम्हें विश्व-सम्राट!

द्वार पर बालक था असहाय।
बढ़ाया उसने अपना हाथ॥
किन्तु था कोई नहीं उपाय।
कौन दे सकता उसका साथ!

भीड़ से था वह बालक त्रस्त ।
नहीं थी कोई उसकी भूल ॥
देखने में ही था वह व्यस्त ।
गिरा, बिखरा, उसका वह फूल ॥

लालसा बालक की अज्ञात,
दलित हो गई फूल के साथ ॥
सहा दोनों ने मर्माघात ।
हुई क्या व्यथा तुम्हें कुछ नाथ ?

स्वर्ग में पहुँचे सब उपहार ।
देव-दूतों की थी क्या भूल ?
किया प्रभु ने सब का सत्कार ।
किन्तु उर पर था बिखरा फूल ॥

२४—नाम

लिखूँ तो लिखूँ भला क्या और,
करूँ मैं क्या यश का विस्तार।
तुम्हारा लिख सकता हूँ नाम,
वही लिखता हूँ बारम्बार ॥१॥

विज्ञ से होगी महिमा-वृद्धि,
वही कर सकते ऐसा काम।
किन्तु हो जाता हूँ कृतकृत्य,
तुम्हारा लिख कर ही मैं नाम ॥२॥

कल्पना का यह नहीं विलास,
न है यह तर्क से, तत्त्व-विवेक।
तुम्हारा नाम-मात्र है, सत्य,
किन्तु मेरा है आश्रय एक ॥३॥

भेज देता हूँ मैं लिख नाम,
नहीं रहता है कुछ भी स्पष्ट।
बिना देखे ही तुम चुपचाप,
उसे कर देते क्षण में नष्ट ॥४॥

जिन्हें अक्षत कृति का है गर्व,
वही करते मेरा उपहास।
किन्तु तुम तो करके भी नष्ट,
स्वयं आ जाते मेरे पास ॥५॥

नहीं करते तुम कभी विलम्ब,
न करते हो, कुछ सोच-विचार ।
जान जाते हो, कोई आज,
प्रतीक्षा करता मेरे द्वार ॥६॥

करो तुम विज्ञों का सत्कार,
नहीं मुझको आदर की चाह ।
न भूलो तुम इतनी ही बात,
कि कोई देख रहा है राह ॥७॥

२५—अन्त

किया इन्दिरा ने उत्पात।
समझाया मैंने, पर
उसने सुनी न मेरी बात ॥१॥

मार दिया मैंने तब,
उसको, मुझको आया रोष।
रोती चली गई वह भीतर,
था उसका ही दोष ॥२॥

फिर सोचा, था उचित नहीं,
यों मुझको करना क्रोध।
यह तो बच्चों का स्वभाव है,
उन्हें कहाँ है बोध ॥३॥

यही सोच कर मुझको,
होने लगा बड़ा परिताप।
काम छोड़ कर तब मैं भीतर,
चला गया चुपचाप ॥४॥

देखा, सोती थी वह लेकर,
गुड़िया अपने साथ।
बड़े स्नेह से मैंने उसपर,
फेरा अपना हाथ ॥५॥

कहने लगा—तुम्हारी, प्रभुवर,
हूँ मैं भी सन्तान।
मुझ से भी होती हैं भूलें;
मुझको है क्या ज्ञान ॥६॥

कितना ही दो दण्ड, तुम्हारा
है तो स्नेह अगाध।
तुम जाओगे भूल अन्त में,
मेरे सब अपराध ॥७॥

२६—भारतवर्ष

हमारा है यह भारतवर्ष ।
फैला कर निज बाहु हिमालय ,
खड़ा अनादि काल से निर्भय ,
करता है घोषित उसकी जय ,
द्वार-रक्षक है वह दुर्धर्ष ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥१॥

पद-तल पर विस्तृत है सागर ,
क्षण क्षण में भीषण निनाद कर,
फैलाता आतङ्क जगत पर ,
किसी का सह्य नहीं आमर्ष ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥२॥

फल-पुष्पों से हो वह सज्जित ,
दिव्य प्रभा से हो अतिरंजित ,
नन्दन-कानन को कर लज्जित ,
बढ़ाता है सब का यह हर्ष ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥३॥

कर अनन्त-वैभव का सञ्चय ,
ज्ञानागार उसी का अक्षय ,
आत्म-विजय से ही महिमामय ,
जगत का एक मात्र आदर्श ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥४॥

यद्यपि लुप्त हुई है महिमा ,
भूला है वह अपनी गरिमा ,
पर अङ्कित है उसकी प्रतिमा ,
पुनः होगा उसका उत्कर्ष ।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥५॥

२७—कवि-खद्योत

होते हैं तम में प्रकट
कितने कवि-खद्योत।
तम में होता नष्ट है
सब का जीवन-स्रोत॥

पाते हैं वे सर्वदा,
देकर अपने प्राण।
लोगों की अवहेलना,
अयश तथा अपमान॥

किन्तु जगत का वे बड़ा
करते हैं कल्याण।
उनसे ही सत्काव्य का
होता है निर्माण॥

नीच मृत्तिका पर नहीं
करते जन दृग-पात।
सब से वह पद-दलित हो
रहती है अज्ञात॥

पर उससे रस-ग्रहण कर
होती जिसकी पुष्टि।
उस गुलाब के वृक्ष से,
जग को होती तुष्टि॥

२८—मिनी की ममता

युद्धभूमि के चित्र पर
मैंने अपनी दृष्टि।
देकर चिन्तित भाव से
कहा—हाय यह सृष्टि!

होती आज विनष्ट है,
था किसका अभिशाप?
धीरे से आकर मिनी,
खड़ी हुई चुपचाप॥

अधरों पर थी हास्य की
रेखा बड़ी पवित्र।
मैंने उसको दे दिया
युद्ध-भूमि का चित्र॥

देखा, उसका तो बड़ा
था विचित्र ही ढंग।
शत्रु-मित्र के भाव का
किया मिनी ने भंग॥

फ्रांस और इंग्लैंड पर
था जब उसका हाथ।
जर्मन देशों का दिया
सजल दृगों ने साथ॥

२६—परिणाम

जीवन की ज्वाला से मेरा
यह क्षुद्र हृदय-सर सूख गया।
मैं हुआ विकल, सोचा क्या प्रभु
की होगी मुझ पर नहीं दया?

जब सब पर करुणा-वृष्टि हुई,
तब मुझ पर भी लघु बूँद पड़ी।
गिरते ही वह झट लुप्त हुई,
तब मुझे हुई वेदना बड़ी॥

मैंने देखा, जग में बहता
था मलिन प्रेम का कुत्सित जल।
मैं करता क्या? उससे ही अपने
किया गात्र को कुछ शीतल॥

कुछ दिन तक तो निर्भय होकर
उसमें ही खूब विलास किया।
जब ग्लानि हुई, कुछ खेद हुआ,
तब उसे हृदय में छिपा लिया॥

हो गया शुद्ध तनु, हृदय पङ्कमय
बना हुआ ही है अब तक।
मैं सोच रहा हूँ, कमलों का
होगा विकास उसमें कब तक?

३०—क्षुद्र का महत्व

क्षुद्र हूँ, मैं मानता हूँ, क्षुद्र हूँ।
पर इसी से, नाथ, तुम तो हो बड़े॥
गिर पड़ा हूँ, आज जो गिरता नहीं।
कौन कहता तब भला तुम हो खड़े॥ १॥

जानता हूँ, तुम बड़े निर्दोष हो।
दुष्ट हैं हम, तब तुम्हारा नाम है॥
यदि कभी जग में जरा भी तम न हो।
तो भला इस ज्योति का क्या काम है॥ २॥

गर्व है क्या दान देने का तुम्हें?
दान है वह, नाथ देते हो जभी॥
फूल जो देता वही तो गन्ध है।
रख लिया तो गन्ध वह होगा कभी॥ ३॥

विश्वपति हो, विश्व है जब तक यहाँ।
कौन सा उपकार तुमने कर दिया॥
तोड़ कर भव-जाल को भी देख लो।
कौन सा अपकार तुमने कर लिया॥ ४॥

३१—ताजमहल

मूर्ति भव्य है किन्तु हृदय
तो है केवल पाषाण।
अश्रुजलों से हो सकता
है क्या इसका निर्माण?

मैंने सोचा, शाहजहाँ का
यह कैसा प्रतिदान।
इस उज्ज्वल कठोरता से
क्या हुआ प्रेम का मान?

ज्यों ही यमुना जी पर मेरी
पड़ी अचानक दृष्टि।
समझ गया मैं, प्रेम भाव
की होती कैसे सृष्टि॥

ताप-पुञ्ज से रवितनया
यह जैसे हुई प्रसूत।
गिरि के वज्र हृदय से
होती वारि-राशि उद्भूत॥

है नैराश्य, विषाद, प्रेम
का, ताजमहल, तू धाम।
तुझ में ही कर सकता है
वह प्रेम-पुञ्ज विश्राम॥

३२—उच्छ्वास

मेरे हुए न कोई, नाथ!
कैसे कहूँ तुम्हीं से प्रभुवर
दो तुम मेरा साथ।

माता, पिता, पुत्र, पति, सब तो
चले गये मुंह मोड़।
मैं अभागिनी बैठी ही हूँ
किससे नाता जोड़।

सब के लिए उदित रवि होते,
सब के लिए प्रभात।
मैं ही अन्धकार में बैठी
रहती हूँ दिनरात।

सब को कृपा वारि देते हो
तुम घनश्याम अपार।
सूख गया मेरा ही उपवन,
उजड़ गया संसार,

सभी तुम्हें कहते हैं प्रभुवर,
तुम हो करुणागार।
तुम भी मेरे लिए रुद्ध
कर चुके, नाथ, निजद्वार ॥ १ ॥

मेरा वह तो था जगदीश।
मेरे सुख, मेरी आशा,
मेरे नभका रजनीश।

मेरे अञ्चल की निधि वह था
मेरा विभव विशाल।
मेरे वृन्दावन का पावस
वही एक गोपाल।

एक एक कर सब कुछ मेरा
छीन ले गया काल।
सहती रहो छिपाकर अपने
उर में अपना लाल।

तुम्हीं दे गये, तुम्ही ले गये,
कहूँ तुम्हे क्या नाथ।
दुखिनी का अवलम्ब छीनकर
अब क्या दोगे साथ ॥ २ ॥

वही था, मेरे गृह का दीप।
उसे छिपा कर निज अञ्चल में
रखती हृदय समीप।

नभ में करता रहे निशाकर
नवशोभा की सृष्टि।
मेरे उर में वह निज छवि से
करता अमृत-वृष्टि।

रत्नों से मण्डित प्रासादों
में हो विभव-विकास।
मेरी क्षुद्र कुटी में बिखरा
उसका हर्षोल्लास।

हे जगदीश, किया है तुमने
अखिल विश्व-निर्माण।
मेरे ही गृह का क्यों तुमने
किया दीप-निर्वाण ॥ ३ ॥

बहुत सह चुकी, अब न सहूँगी।
तुम हो निपट निरंकुश निष्ठुर,
मैं तो यही कहूँगी।

अब तक रही भटकती फिरती,
अब तो बैठ रहूँगी।
पड़ी हुई हूँ भव प्रवाह में
अब तो और बहूँगी।

मत छोड़ो यह जाल, फँसी हूँ
अब क्या और फसूंगी।
हँसी तुम्हारी ही तो होगी,
मैं भी नाथ हसूँगी ॥ ४ ॥

सुन चुकी हूँ तुम्हारा नाम।
अब न पूछूँगी किसी से
मैं तुम्हारा धाम।

दीनबन्धु, कहाँ रहोगे
छोड़ दीन निवास।
पतित पावन कौन आता,
नीच जन के पास।

व्याध, शबरी और गणिका
के गृहों के द्वार।
जानती हूँ नाथ कैसे
थे वे सुषमागार।

मैं न खोजूँगी, प्रभो, अब
स्वर्ग-लोक ललाम।
क्योंकि प्रभुवर सुन चुकी हूँ,
मैं तुम्हारा धाम ॥ ९ ॥

३३—कुछ

किसी से कह न सकूँ जो बात,
तुम्हारे लिए वही मैं आज।
यहाँ लिखता हूँ निस्सङ्कोच,
तुम्हीं रक्खोगे मेरी लाज।
विज्ञजन से मिलता उपहास,
बन्धुजन से आश्वासन-मात्र।
किन्तु कह तुमसे अपनी बात,
बना ही रहा स्नेह का पात्र ॥ १ ॥

स्वार्थमय तो है यह संसार,
स्वार्थवश करते हैं सब काम।
जगत में दो ही दुर्लभ रत्न,
स्नेह निश्छल, सेवा निष्काम ॥
किसी से पाया मैंने स्नेह,
किसी में देखा मैंने त्याग।
किसी ने सेवा की सप्रेम,
किसी से मिला मुझे अनुराग ॥ २ ॥

किया कितनों से मैंने मेल,
किया कितनों से वैर-विरोध।
किसी से घृणा, किसी से द्वेष,
किसी पर स्नेह, किसी पर क्रोध ॥
सुखों के लिये सहा है कष्ट,
मान के लिये वेदना मात्र।
किये कितने सुकर्म-दुष्कर्म,
रहा मैं यश-अपयश का पात्र ॥ ३ ॥

देविका रानी का था खेल,
उमड़ आया था जन समुदाय ।
भूल जाने को सारे कष्ट,
कल्पना ही है एक उपाय ॥

सत्य का है असह्य आघात,
त्रस्त हो जाते बड़े प्रवीण ।
कल्पना का ही मधुर प्रलेप,
वेदना को कर देता क्षीण ॥ ४ ॥

भू पतित कोई प्रस्तर खण्ड,
देव पद कर लेता है लब्ध ।
जगत में हो जाता है पूज्य,
कहेंगे क्या इसको प्रारब्ध ।

नहीं तुममें कुछ गौरव गुण,
शक्ति है अन्य किसी की लीन ।
स्वयं तुम तो हो केवल दास,
भले हो प्रभु-पद पर आसीन ॥ ५ ॥

धर्म-विज्ञों का माया-जाल,
मूढ़ फँसते उसमें तत्काल ।
छिपाने को ही निज अन्याय
न्याय का बनता भवन विशाल ॥

धर्म से आई है कब शक्ति,
शक्ति ही निर्मित करती धर्म,
शक्ति जो करे वही है धर्म
शक्ति से हीन कर्म दुष्कर्म ॥ ६ ॥

करोगे दया नहीं क्या, नाथ,
छोड़ ही दोगे अब क्या साथ?
सूझती मुझे नहीं है राह,
अब नहीं पकड़ोगे क्या हाथ?

भटकता फिरा ग्राम से ग्राम,
प्रभो, भटकाओगे क्या और।
रहूँगा कब तक यों सन्त्रस्त,
नहीं दोगे चरणों पर ठौर ॥ ७ ॥

व्यर्थ आशा से होकर मुग्ध,
भटकता फिरा सभी के द्वार।
विनय, अनुनय, आग्रह, अनुरोध,
न किया किससे बारम्बार ॥

अयाचित ही तुमने जब हाथ,
बढ़ा कर रख ली मेरी लाज।
कर दिया सार्थक अपना नाम,
अब कहूँ क्या मैं तुमको आज ॥ ८ ॥

बन पड़ा मुझसे जो कुछ, नाथ;
किया पर हुआ न सफल प्रयास।
लिया जब तुमने ही मुँह फेर,
करूँ तब मैं किस पर विश्वास ॥

देखकर मुझको अब उद्विग्न,
हो रहा है कुछ को परितोष।
तुम्हीं जब भूल गये हो नाथ,
तब भला दूँ मैं किसको दोष ? ॥ ९ ॥

राजकन्याओं की अपमृत्यु,
हो गया सुनकर मैं तो स्तब्ध।
छोड़कर प्राणों का भी मोह,
उन्होंने किया भला क्या लब्ध॥

मोह से थीं क्या वे अभिभूत,
या उन्हें था कुल का अभिमान।
वेदना थी क्या उन्हें असह्य,
किया किस महिमा पर बलिदान॥१०॥

दे चुका जब अपना सर्वस्व,
कहा सब ने अब हुए कृतार्थ।
सुता तो है पर की सम्पत्ति,
बात है उनकी सत्य, यथार्थ।

हुआ कुछ लोगों को सन्तोष,
किया कुछ लोगों ने परिहास।
पद्म का अन्तस्तल है शून्य,
करेगा कोई क्या विश्वास॥११॥

चकित रह जाता हूँ मैं देख,
बड़ों का बड़ा विलक्षण ढंग।
कहूँ कैसे उनको मतिहीन,
हो रही मेरी ही मति भंग॥

भूल वे अपनी गरिमा आज,
बन गये हैं पर के ही दास।
स्वभाषा, स्वजन, स्वधर्म, स्वदेश,
किसी पर है न उन्हें विश्वास॥१२॥

सदा करती हो तुम उत्पात,
मुझे होता यह देख विनोद।
नहीं रह सकती तुम गम्भीर,
न रुकता कभी तुम्हारा मोद॥

बन गया हूँ मैं तो अब खेल,
मान ली मैंने तुमसे हार।
अभी तक तुमको हुआ न ज्ञात,
कार्य का है कैसा गुरु—भार॥१३॥

क्यों न हो सुखमय वह आगार,
जहाँ हो गृह लक्ष्मी का वास।
किसी को हो क्यों कष्ट, अभाव,
स्वयं जन श्री रहती है पास।

तुम्हारी देख कुशलता देवि,
क्यों न मैं करूँ यहाँ स्वीकार।
न थी नल की अपनी कुछ शक्ति,
रहा दमयन्ती पर ही भार॥१४॥

किसी ने सञ्चित की सम्पत्ति,
किसी ने किया शक्ति-विस्तार।
किन्तु तुमने तो मेरे बन्धु,
नहीं देखा इनमें कुछ सार।

सभी हैं स्वार्थ-सिद्धि में व्यग्र,
तुम्हीं में देखा मैंने त्याग।
सेव्य बनना है सब को इष्ट,
तुम्हें सेवा से ही अनुराग॥१५॥

कष्ट सङ्कट में न हो अधीर,
और सुख में न कभी मतिहीन।
न हो उन्नति में मिथ्या दम्भ,
न हो अवनति में कातर दीन।

कार्य में रहकर सदा सचेष्ट,
हुए कब व्यग्र, किया कब रोष।
तुम्हें ही देखा यों मति-धीर,
अन्य हों चाहे कितने दोष ॥१६॥

मूढ़ हूँ क्यों न करूँगा भूल,
नीच हूँ क्यों न रहेंगे दोष।
देखने में ही मेरी भूल,
सदा होगा तुमको क्या तोष।

न हो यदि सेवा स्मृति के योग्य,
कहोगी क्या न कभी यह बात।
मूढ़ तो था वह निस्सन्देह,
भाव पर थे उसके अवदात ॥१७॥

दीन पर सदा दया की दृष्टि,
अज्ञजन का आदर-सत्कार।
तुम्हीं तो कर सकती हो देवि,
तुम्हारा ही है हृदय उदार।

तुम्हारा आश्रय पाकर देवि,
बन गया हूँ मैं भी गुण-धाम।
क्षुद्र की कर यों महिमा-वृद्धि,
किया तुमने सार्थक निज नाम ॥१८॥

अधर पर निश्छल हास्य निगूढ़,
हृदय में है सद्भाव अपार।
सरलता की प्रतिमा अवदात,
स्नेह की सकरुण छबि सुकुमार।

क्यों न हो वन्दनीय सर्वत्र,
लोक-पावन है जिसका नाम।
रहो तुम गिरिजा ही हे देवि,
तभी गृह होगा लोक ललाम ॥१६॥

खेलती मुख पर सुश्री नित्य,
शील-सङ्कोच-स्नेह से युक्त।
झलक जाती प्रतिभा की दीप्ति,
ज्योति-रेखा-सी उज्ज्वल, मुक्त।

गुणार्जन कर विद्या के साथ,
करो तुम सार्थक अपना नाम।
सुशीला ही बन कर हे देवि,
करोगी निज गृह सुख का धाम ॥२०॥

हुआ यह सहसा वज्र निपात,
कहूँ क्या तुमको हे भगवान्।
वही होता जो तुमको इष्ट,
इष्ट यह क्या था दया निधान ॥

विधाता का यह विषम विधान,
अनुज को समझावे अब कौन।
शोक से कर उसको विक्षिप्त,
नाथ रह जाओगे क्या मौन ॥२१॥

जरा से जीर्ण, व्याधि से ग्रस्त,
हो गई थी जननी अति क्षीण।
किसी की थी न उन्हें कुछ चाह,
पड़ी थीं भू पर कान्ति-विहीन॥

अन्त तक स्नेहमयी थी दृष्टि,
मृत्यु ले गई उन्हें निज धाम।
मरण क्या है बंधन से मुक्ति,
चिरंतन है या वह विश्राम॥२२॥

कहाँ वह स्नेह, शील, सङ्कोच,
कहाँ यह निष्ठुरतम व्यवहार।
किया तुमने यह कैसे देवि,
प्रेम का यह कैसा प्रतिकार॥

तुम्हें था मानिन प्रिय बस मान,
मान पर किया आत्म-बलिदान।
मातृ-पद के गौरव की ओर,
किन्तु तुमने न दिया कुछ ध्यान॥२३॥

कहें अब क्या हम दीनानाथ,
कर्म का ही होगा यह दंड।
करेंगे क्यों न उसे स्वीकार,
तुम्हारी भी है रोष प्रचंड॥

क्षुद्र हैं, तुम्हीं हमें दो शक्ति,
दंड हम सह लें नाथ सहर्ष।
या हमें कर दो बन्धन मुक्त,
विकट है यह जीवन संघर्ष॥२४॥

जानती है वह मेरे दोष,
नहीं उससे कुछ भी अज्ञात।
भला, कैसा है उसका स्नेह,
न कहती अपनी कोई बात॥

किया करती सेवा चुपचाप,
न रखती अपना कुछ अधिकार।
उसे है एक इसी में हर्ष,
करूँ उसकी सेवा स्वीकार॥२५॥

ज्ञात तो है तुमको सब सत्य,
छिपी क्या तुमसे कोई बात।
जानते हो तुम मेरे दोष,
नहीं तुमसे कुछ भी अज्ञात॥

बता दो अब है कौन उपाय,
सुझा दो मुझे आज तुम राह।
हो रहा हूँ कर्त्तव्य-विमूढ़,
बढ़ रही मेरी अन्तर्दाह॥२६॥

करूँ मैं चाहे कितना दम्भ,
जानता हूँ मैं अपने दोष।
किया करता हूँ जो कुछ काम,
मुझे क्या है उनसे संतोष॥

अधिक करने की भी तो शक्ति,
नहीं है मुझमें अब तो नाथ।
ले चलो चाहे जिस ओर,
पकड़ कर मेरा दुर्बल हाथ॥२७॥

जानकर मुझको क्या तुम नीच,
साथ रह गये आज यों मौन।
तभी अच्छों का देते साथ,
नीच का साथी होगा कौन॥

दोष हैं मुझमें तो प्रत्यक्ष,
किन्तु देखो तुम अपनी ओर।
तुम्हारी हुई दया निःशेष,
पाप क्या हैं यों मेरे घोर॥२८॥

कपट कहते हैं जिसको अज्ञ,
वही है विज्ञजनों की नीति।
स्वार्थ की होती जिससे सिद्धि,
वही है मतिमानों की रीति॥

बना सकते जो पर को मूढ़,
शक्ति का करते वे उपभोग।
अज्ञ ही होते हैं बलहीन,
क्यों न वे सहें यातना रोग॥२९॥

उच्च पद पर होकर आसीन,
सभी हो जाते हैं मतिमान।
अज्ञ ही तो होते हैं दास,
निहित है केवल पद में ज्ञान॥

बड़े हो सकते नहीं सदोष,
अनुचरों में ही होते दोष।
इन्हीं से होती भूल सदैव,
क्यों न वे करें इन्हीं पर रोष॥३०॥

मान कर तुमने मुझको देव,
दे दिया सब कुछ निस्संकोच।
ले लिया मैंने भी कर गर्व,
तथा तब मुझको भय या सोच।

तुम्हारा ले जीवन का भार,
बन गया स्वयं तुम्हारा भार।
खींच कर तुम्हें पङ्क में आज,
तुम्हीं से चाहूँ मैं उद्धार ॥२१॥

तुम्हारा ही पाकर संदेश,
मुझे कुछ मिली सांत्वना आज।
कर रहा आशा का संचार,
तुम्हारा यही स्नेह निर्व्याज ॥

स्वयं मैं हूँ सचमुच असमर्थ,
तुम्हारा ही है आश्रय एक।
ले चलो चाहे तुम जिस ओर,
खो चुका हूँ निज बुद्धि-विवेक ॥२२॥

जहाँ अब है विशाल प्रासाद,
वहाँ था केवल एक कुटीर।
जहाँ अब होता हर्षोल्लास,
वहाँ थी निर्जनता गम्भीर ॥

वहीं थे हुए प्रथम उद्भूत,
कल्पना के ये क्षुद्र प्रसून।
आज यदि कर दूँ उसको भेंट,
न होगी श्री उसकी क्या न्यून ॥२३॥

आख्यायिका

आख्यायिका-रहस्य

आज-कल साहित्य में कुछ ऐसे समालोचक पैदा हो गये हैं जो सर्वत्र सदाचार की शिक्षा ही ढूँढ़ा करते हैं। उनकी समझ में साहित्य की सृष्टि मनुष्यों को सिर्फ़ 'कु' और 'सु' की शिक्षा देने के लिए हुई है। काव्य, नाटक, उपन्यास और आख्यायिका, सभी में वे धर्म का उपदेश चाहते हैं। एक जर्मन समालोचक ने यह साहस-पूर्वक कहा था कि शेक्सपीयर ने सांसारिक वैभव की अस्थिरता दिखाने के लिए ही "एज़ यू लाइक इट" (As you like it) नामक नाटक की रचना की है। उसमें शेक्सपीयर ने वन्य-जीवन का जो कल्पना-प्रसूत आदर्श और मनोहर दृश्य अङ्कित किया है वह संन्यास धर्म की शिक्षा का हेतु बन गया! एक बार किसी महिला ने रवीन्द्रनाथ से पूछा कि आपने अमुक कहानी किस मतलब से लिखी है, आपका उद्देश क्या था? उत्तर में रवीन्द्र बाबू ने कहा—"कहानी लिखने का उद्देश कहानी लिखना है। मैं कहानी इसीलिए लिखता हूँ, क्योंकि कहानी लिखने की मेरी इच्छा होती है। किसी मतलब से कहानी नहीं लिखी जाती। यह सच है कि आख्यायिका-लेखक पर काल का प्रभाव पड़ता है। पर काल और समाज का प्रभाव उतना ही रहता है जितने से उसका कला-कौशल प्रस्फुटित हो। मनुष्यों के हृदय में काल बहुवर्ण-रञ्जित सूत्रों का जाल बनाता है और उसकी उद्भावना साहित्य-जगत में होती है। आज-कल देश की जैसी दशा है वह लेखक के हृदय में अङ्कित हो गई है। उसका फल हमें उसकी कृति में मिलता है। साहित्य विज्ञान नहीं है और न वह धर्मशास्त्र है। यदि उसमें कुछ निर्धारित नियमों के अनुसार ही पात्रों के चरित्र अङ्कित किये जायँ तो वह चित्र प्राण-हीन होगा। यह सम्भव है कि वह नेत्ररञ्जक हो। पर उसमें हम जीवित संसार

का आदर्श न देख सकेंगे । यदि कोई नियम निर्धारित किया जाय तो वह मानव-स्वभाव के अनुकूल हो—कठोर और स्थिर नहीं, वह हो मृदु और परिवर्तनशील ।" यहाँ उदाहरण के लिए रवीन्द्रनाथ, मोपासां, गोर्की, वेल्स आदि की कुछ कहानियाँ दी जाती हैं जिनमें मानव-जीवन के चिरन्तन भावों का प्रदर्शन किया गया है ।

१-उपक्रम

ज्यों ही बालक का कण्ठ फूटा त्यों ही उसने कहा—कहानी कहो ।

दादी ने कहना शुरू किया—एक राजपुत्र था, उसके चार मित्र थे, एक मन्त्री का लड़का, दूसरा सौदागर का लड़का, तीसरा—इसी समय गुरु जी ने चिल्ला कर कहा—तीन चौके बारह ।

परन्तु गुरु जी का हुङ्कार कहानी के राक्षस के हुङ्कार के आगे दब गया । वह लड़के के कानों तक पहुँचा नहीं । जो बालक के शुभचिन्तक थे उन्होंने उसको एक कमरे में बन्द कर बड़े गम्भीर स्वर से कहा—देखो तीन चौके बारह, यह तो सत्य है और राजपुत्र या मन्त्री-पुत्र की बात बिलकुल झूठी है । इसलिए—

उस समय बालक का मन मानस चित्र के उस समुद्र को पार कर रहा था जिसका पता किसी नक़शे में नहीं लग सकता । तीन चौके बारह उसके पीछे पीछे दौड़ता रहता है, परन्तु मृगजल की तरह उससे पानी नहीं निकलता ।

शुभचिन्तकों ने समझ लिया कि लड़का पूरा बदमाश है । बेत की चोट से ही वह सुधर सकता है ।

इधर गुरु जी का रुख देख कर दादी चुप हो गई । पर विपत्ति का अन्त यों ही नहीं हो जाता । एक जाती है तो उसकी जगह दूसरी आती है । दादी के चुप हो जाने के बाद पौराणिक जी ने आकर आसन जमाया और उन्होंने राम-बनवास की कहानी शुरू कर दी ।

जब सूर्पनखा की नाक काटी जा रही थी तब शुभचिन्तकों ने

आकर कहा—इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं है। जो बात प्रमाणित हो सकती है वह है तीन चौके बारह ।

उस समय हनूमान आकाश में इतने ऊँचे उड़ रहे थे कि इतिहास उनका पल्ला नही पकड़ सकता था। पाठशाला के बाद स्कूल में और स्कूल के बाद कालेज में लड़के के मानसिक सुधार की योजना होने लगी। परन्तु चाहे कुछ भी किया जाय यह बात मिट नहीं सकती कि कहानी की स्पृहा ही न रहे ।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि केवल शैशव काल में ही नहीं, सभी अवस्थाओं में मनुष्य की पुष्टि कथा से होती है। इसी से पृथ्वी पर मनुष्य के घर घर में, मुख मुख में, ग्रन्थ ग्रन्थ में जो जमा होता है वह मनुष्य के सभी सञ्चयों से पढ़ जाता है।

शुभचिन्तक यह बात भूल कर भी नहीं सोचते कि कहानी का नशा ही विधाता का सब से अन्तिम नशा है। जब तक उसका सुधार नहीं किया जायगा तब तक मनुष्य के सुधार की आशा नहीं है ।

एक दिन विधाता अपने कारखाने में अग्नि से जल और जल से मिट्टी गढ़ने लगे। उस समय सृष्टि वाष्पभार से व्याकुल थी। धातुओं और पत्थरों के पिण्ड क्रमशः गूँथे जा रहे थे गममें मसाला छोड़ा जाता था और वे दमादम पीटे जाते थे। उस दिन विधाता को देखने से यह बात किसी तरह ध्यान में नहीं आ सकती थी कि इनमें कहीं भी मनुष्य हैं। उस समय का कारखाना कहा जाता है सारवान् ।

इसके बाद प्रारम्भ हुई प्राण की सृष्टि। घास उगी, पेड़ बढ़े, पशु दौड़े और पक्षी उड़े। कोई मिट्टी के बन्धन से आकाश में अञ्जलि देने के लिए खड़ा हुआ। कोई स्वतंन्त्र हो अपने को पृथ्वी पर विस्तृत करने के लिए चला। कोई जल की यवनिका पर चुपचाप नृत्य करता हुआ पृथ्वी की प्रदक्षिणा में ही व्यस्त हुआ। कोइ आकाश में पर फैला कर सूर्यालोक के वेदीतल में सङ्गीत की अर्घ्य-रचना के लिए उत्सुक हुआ। इसी समय से विधाता के मन में हलचल शुरू हुई।

इस तरह कितने युग व्यतीत हुए। हठात् एक दिन विधारा के मन में कोइ विचार उठा उसने अपने कारखाने में उन-चास पवनों को तलब किया। उन सब को लेकर उन्होंने मनुष्य की रचना की। इतने दिनों के बाद कथा की बारी आई। इतना समय विज्ञान और शिल्प में कटा, अब साहित्य शुरू हुआ।

मनुष्य को उन्होंने कहानियों में ही व्यक्त किया। पशु-पत्ती का जीवन है आहार, निद्रा और सन्तान-पालन। मनुष्य का जीवन है कथा। कितनी वेदना, कितनी घटनायें, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, अच्छे बुरे के किनने घात-प्रतिघात होते हैं। इच्छा के साथ इच्छा का, एक के साथ दस का, साधना के साथ स्वभाव का, कामना के साथ घटना का सङ्घर्षन होने से कितना आवर्तन होता है। जिस प्रकार नदी जल की धारा है उसी प्रकार मनुष्य कथा का प्रवाह है। इसी से हम एक दूसरे से पूछते रहते हैं—क्या हाल है, क्या ख़बर है, इसके बाद क्या हुआ। इसी 'इसके' बाद' से मनुष्य व्यथा गूँथी हुई है। उसी को हम जीवन की कहानी कहते हैं। उसी को हम मनुष्य का इतिहास कहते हैं।

विधाता-रचित इतिहास और मनुष्य-रचित कहानी, इन्हीं दो से मनुष्य का संसार है। मनुष्य के पत्त मे केवल अशोक या अकबर की कथा ही सत्य नहीं है। जो राजपुत्र सात समुद्रों को पार कर सात राज्यों का धन खोजने के लिए निकला है वह भी सत्य है। हनुमान के वीरत्व की कथा भी सत्य है। उनके गन्ध-मादन को उखाड़ कर ले आने की बात पर कोई सन्देह नहीं हो सकता। मनुष्य के लिए औरङ्गजेब उतना ही सत्य है जितना दुर्योधन। किसके लिए अधिक प्रमाण है और किसके लिए कम, इस दृष्टि से इस सत्य की परीक्षा नहीं हो सकती। देखना यही है कि कहानी की दृष्टि से वह असल है या नहीं। उसके लिए यही सब से बढ़ कर सत्य है।

२—परी का परिचय

जब राजपुत्र की अवस्था बीस वर्ष की होगई तब भिन्न भिन्न देशों से विवाह के प्रस्ताव आने लगे। ज्योतिषी जी ने कहा बाह्लीक देश की राजकन्या बड़ी सुन्दरी है, मानो गुलाब का फूल हो। राजपुत्र ने मुँह फेर लिया, जवाब कुछ नही दिया।

दूत ने आकर कहा—गान्धार की राजकन्या के अङ्ग भङ्ग से लावण्य फूटा पड़ता है, मानो अंगूर की लता से अंगूर टपके पड़ते हों। राजपुत्र उसी दिन शिकार खेलने के लिए चला गया, कई दिन बीत गये, पर वह लौटा ही नही।

फिर एक दूत ने आकर कहा—काम्बोज की राजकन्या को देख आया हूँ। प्रातःकालीन क्षितिज के समान वक्र उसके नेत्र-पल्लव शिशर से भी स्निग्ध और प्रकाश से भी उज्ज्वल है। राजपुत्र भर्तृहरि का काव्य पढ़ने लगा, पुस्तक पर से उसने अपनी आँख नहीं उठाई।

राजा ने कहा—यह क्या बात है ? मन्त्री-पुत्र को तो बुलाओ।

मन्त्री पुत्र के आने पर राजा से पूछा—तुम तो हमारे लड़के के मित्र हो। बतलाओ, उसको विवाह से इतनी विरक्ति क्यो है ?

मन्त्री पुत्र ने उत्तर दिया—महाराज, जब से आपके पुत्र ने परिस्तान की कहानी सुनी है तब से उन्होने यही निश्चय किया है कि विवाह करेंगे तो परी से ही।

(२)

राजा ने आज्ञा दी कि परिस्तान का पता लगाया जाय। बड़े बड़े पण्डित बुलाये गये। उन्होने बड़ी बड़ी किताबें उलट-पुलट कर देख डालीं, पर सभी ने कहा कि पुस्तकों में तो परिस्तान का कहीं इशारा तक नही है। तब बड़े बड़े सौदागर बुलाये गये। उन्होने कहा—समुद्र पार कर हम कितने ही द्वीप देख आये हैं, पर परिस्तान का पता हमने कहीं नही पाया। तब राजा ने आज्ञा दी—मन्त्री-पुत्र को बुलाओ।

मन्त्री-पुत्र के आने पर राजा ने उससे पूछा—परिस्तान की कहानी राजपुत्र ने किससे सुनी है।

मन्त्री-पुत्र ने कहा—नवीन नाम का एक पागल है। वह हाथ में बंसी लिये जङ्गल जङ्गल घूमता फिरता है। उसी से राजपुत्र ने परिस्तान की कहानी सुनी है।

राजा ने कहा—अच्छा, उसी को बुलाओ।

नवीन पागल राजा को भेट देने के लिए मुट्ठी पर जङ्गली फूल लेकर आया। राजा ने उससे पूछा—तुम परिस्तान का हाल जानते हो?

वह बोला—वहाँ तो मैं रोज़ आता जाता हूँ।

राजा—वह है कहाँ?

पागल—यहीं, आपके राज्य में, चित्रगिरि पहाड़ के नीचे, काम्यक सरोवर के किनारे।

राजा—वहाँ परियाँ दिखाई देती हैं?

पागल—दिखाई तो देती है, पर उन्हें पहचानना बड़ा कठिन है, क्योंकि वे सब छद्म-वेश मे रहती हैं। कभी कभी तो जब वे चलीं जाती है तब वे अपना परिचय देती हैं और तब उन्हें कोई पा नहीं सकता।

राजा—तब तुम कैसे पहचान लेते हो?

पागल—कभी एक स्वर सुन कर और कभी एक प्रकाश देख कर।

राजा ने विरक्त होकर कहा—ये सब पागलपन की बातें हैं, निकालो इसको।

(३)

पर पागल की बात राजपुत्र के मन में जम गई। फागुन के महीने में जब वृक्षों की शाखायें फूलों से लद गईं और जङ्गल फूलों से भर गया तब राजपुत्र अकेला ही चित्रगिरि पहाड़ की ओर चल पड़ा लोगों ने पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं? पर उसने किसी को कुछ उत्तर नहीं दिया।

गुफा के भीतर से एक झरना झरता था, जो काम्यक सरोवर में आकर मिल जाता था। लोगों ने उसका नाम रक्खा था—उदास निर्झरिणी। उसी झरने के किनारे एक टूटे-फूटे मन्दिर में राजपुत्र रहने लगा।

एक महीना बीत गया। शाखाओं में जो नये पत्ते निकले थे उनका रङ्ग गहरा हो गया और गिरे हुए फूलों से जङ्गल का रास्ता ढक गया। इसी समय एक दिन, प्रातःकाल, स्वप्न में राजपुत्र ने एक वंशी का स्वर सुना। उठ कर राजपुत्र ने कहा—आज मैं अवश्य परी को देख लूँगा।

(४)

घोड़े पर चढ़ कर राजपुत्र उसी के किनारे किनारे रवाना हुआ और काम्यक सरोवर के तट पर पहुँच गया। वहाँ उसने देखा कि एक पहाड़ी लड़की पद्मवन के किनारे बैठी हुई है। जल से उसका घड़ा भरा हुआ है, पर वह घाट से उठती नहीं। उस काली लड़की ने अपने कान के ऊपर काले बालों में एक शिरीष का फूल खोंस रक्खा है मानो गो-धूलि में तारा।

राजपुत्र ने घोड़े से झुक कर उससे कहा—तुम अपने कान के शिरीष फूल को मुझे दोगी?

जो हरिणी भय नहीं जानती, जान पड़ता है, वह वही हरिणी थी। उसने गर्दन टेढ़ी कर एक बार राजपुत्र की ओर देखा। उसी समय उसकी काली आँखों के ऊपर किसी की छाया आकर पड़ गई, जिससे उनकी श्यामता बढ़ गई, मानो निद्रा के ऊपर स्वप्न का सञ्चार हुआ अथवा आकाश पर श्रावण का।

लड़की ने कान से फूल निकाल कर राजपुत्र के हाथ में देकर कहा—लो।

राजपुत्र ने उससे पूछा—सच बतलाओ, तुम कौन परी हो?

यह प्रश्न सुन कर पहले उस लड़की के मुख पर विस्मय का भाव आया, फिर आश्विन के मेघ की चमक और वृष्टि की तरह वह खिलखिला कर हँसने लगी। उसकी यह हँसी रुकती ही नहीं थी।

राजपुत्र ने मन ही मन कहा—स्वप्न सफल हुआ। हँसी के इस स्वर से वंशी के स्वर का मेल है। फिर उसने अपने दोनों हाथ बढ़ाकर कहा—आओ।

लड़की उसका हाथ थाम कर घोड़े पर चढ़ गई।

उसने कुछ विचार नहीं किया। घाट पर उसका घड़ा पड़ा ही रहा। उसी समय शिरीष की शाखा से कोकिला बोल उठी—कुऊ कू।

राजपुत्र ने उस लड़की से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है?

लड़की ने कहा—कजली।

दोनों उदास-निर्झरिणी के किनारे उस टूटे-फूटे मन्दिर में पहुँच गये।

राजपुत्र ने कहा—अब अपना यह छद्म-वेश फेंक दो।

कजली ने कहा—हम तो जङ्गली लड़की हैं, छद्मवेश नहीं जानतीं।

राजपुत्र बोला—तब तुम अपना परी का रूप दिखलाओ।

परी का रूप! यह सुनते ही लड़की फिर हँसने लगी। राजपुत्र सोचने लगे—इस हँसी के स्वर से झरने का स्वर मेल खाता है। इसलिए यह झरने की परी है।

(५)

इधर राजा के पास खबर पहुँची कि राजपुत्र ने परी से विवाह किया है। तब राजभवन से घोड़ा, हाथी और पालकी आई।

कजली ने पूछा—यह क्या है।

राजपुत्र बोले—तुम्हें अब राजभवन चलना पड़ेगा।

तब कजली की आँखें डबडबा आईं, वह सोचने लगी—उसके घर के आँगन में सूखने के लिए जो बीज फैलाये गये थे वे वैसे ही पड़े हैं। उसके बाप और भाई शिकार के लिए जङ्गल गये थे, उनके भी लौटने का अब समय है। इसके बाद उसे स्मरण आया कि उसकी मा उसे विवाह के अवसर पर देने के लिए कपड़ा बुन रही है।

लड़की ने कहा—मैं नहीं जाऊँगी।

पर ढोल और दमामे बजने लगे। बाजे की आवाज़ में उसकी बात किसी ने नहीं सुनी।

जब कजली की पालकी राजद्वार पर पहुँची और कजली नीचे उतरी तब महारानी ने कपाल पर हाथ मार कर कहा—यह कैसी परी है।

राजकन्यायें कहने लगीं—छिः छिः—यह कैसी लज्जा की बात है।

दासियों ने कहा—परी का वेश भी कैसा है।

राजपुत्र ने कहा—चुप रहो, परी तुम्हारे घर में छद्मवेश में आई है।

(६)

दिन पर दिन जाने लगे। चाँदनी रात में राजपुत्र जाग कर कजली की ओर देखते कि कहीं उसका छद्म-वेश थोड़ा भी हटा है या नहीं, पर कजली की देह काले पत्थर पर खुदी हुई प्रतिमा की तरह दीख पड़ती। राजपुत्र चुपचाप बैठे बैठे सोचते—परी, रात्रि के अन्धकार में उषा की तरह तुम कहाँ छिपी हुई हो।

राजपुत्र को अब अपने घर के लोगों से लज्जा मालूम होने लगी। एक दिन कुछ क्रोध भी हुआ। प्रातःकाल जब कजली बिछौने से उठ कर जाने लगी तब राजपुत्र ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—आज मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। अब तुम अपना रूप दिखलाओ।

पहले यह बात सुनते ही कजली की हँसी नहीं रुकती थी। परन्तु आज उसकी आँखों में आँसू भर आये।

राजपुत्र ने कहा—तुम क्या हमें सदैव भ्रम में ही रक्खोगी ?

कजली—अब नहीं रक्खूँगी।

राजपुत्र—अच्छा तो इस शरद्-पूर्णिमा में सब लोग तुम्हें परी के रूप में देखें।

(७)

पूर्णिमा का चन्द्रमा आकाश पर क्रीड़ा कर रहा था। राजभवन में नौबत बज रही थी। राजपुत्र ने वर के वेश में शयनगृह में प्रवेश किया। परी से उनकी 'शुभ-दृष्टि' होगी।

शयन-गृह में बिछौने पर सफ़ेद चादर बिछी थी, उस पर कुन्द के श्वेत फूल बिखरे पड़े थे। चन्द्रमा की उज्ज्वल ज्योत्स्ना से गृह आलोकित हो रहा था। पर कजली कहाँ थी? तीन प्रहर बीत गये। परन्तु परी कहाँ है? राजपुत्र ने मन ही मन कहा—कभी कभी जब परी चली जाती है तब अपना परिचय देती है और तब उसे कोई पा नहीं सकता।

३—राजपुत्र

(१)

राजपुत्र चला जा रहा है। अपना राज्य छोड़ कर, सात राजाओं का राज्य पार कर उस में, जहाँ किसी राजा का राज्य नहीं, राजपुत्र चला जा रहा है।

यह उस काल की कथा है जिसका न आदि है और न अन्त।

शहर और गाँव में और सभी लोग हाट-बाज़ार जाते हैं, घर का काम-काज देखते हैं, लड़ाई-झगड़े में लगे रहते हैं। पर जो हमारा चिरकाल का राजपुत्र है वह केवल राज्य छोड़ कर चला जाता है?

क्यों जाता है?

कुएँ का जल कुएँ में ही बना रहता है, तालाब का जल तालाब में शान्त रहता है। पहाड़ का जल पहाड़ में अवरुद्ध नहीं रहता, मेघ का जल मेघ में ही रुका नहीं रहता। राजपुत्र को उसके राज्य में कोई रोक कर नहीं रख सकता। वह तो अज्ञात देश की खोज में निकलता है और बिना उसे देखे वह लौटने का नहीं। सात समुद्र और तेरह नदियों को पार कर उसे जाना ही होगा।

मनुष्य बारम्बार शिशु होकर जन्म लेता है और बार बार इसी पुरानी कहानी को नई बनाकर सुनता है। सन्ध्या-प्रदीप के स्थिर प्रकाश में लड़के चुपचाप गाल पर हाथ रक्खे सोचते हैं—हमीं वह राजपुत्र हैं।

जहाँ वह अज्ञात देश समाप्त हुआ वहीं सामने समुद्र है। उसके बीच बीच द्वीप है और उस द्वीप में दैत्यपुरी है, जहाँ राजकन्या वन्दिनी है।

पृथ्वी पर कोई धन चाहता है, कोई नाम चाहता है और कोई आराम खोजता है। पर हमारा राजपुत्र उस दैत्यपुरी से राजकन्या का उद्धार करना चाहता है। तूफ़ान उठ रहा है, नाव का पता नहीं। फिर भी राजपुत्र पथ ढूँढ़ रहा है।

यह मनुष्य की आदि कथा है, और सब अन्त की। पृथ्वी पर जिनका नवीन जन्म होता है वे अपनी दादी से इसी चिरन्तन कथा का हाल सुनना चाहते हैं कि राजकन्या वन्दिनी है; समुद्र दुर्गम है, दैत्य दुर्जय है और बेचारा राजपुत्र अकेला प्रण करता है कि मैं राज-कन्या को क़ैद से छुड़ा लाऊँगा।

बाहर अन्धकारमय बन में वृष्टि हो रही है। झींगुर शब्द कर रहे हैं और लड़के गाल पर हाथ दिये सोचते हैं—हमें दैत्यपुरी से राज कन्या को लाना होगा।

(२)

सामने असीम समुद्र आया, स्वप्न की लहरों से युक्त निद्रा के समान। वहीं राजपुत्र घोड़े से नीचे उतर पड़ा।

किन्तु ज़मीन पर पैर रखते ही यह क्या हुआ? किस जादू-गर का यह जादू है?

यह तो शहर है। ट्राम दौड़ रही है। आफ़िस की ओर जानेवाली गाड़ियों की भीड़ से रास्ता दुर्गम है। एक किनारे ताड़पत्ते की बंशी बनानेवाला लड़कों को आकृष्ट करने के लिए बंशी बजाता हुआ चला जा रहा है।

और राजपुत्र का यह कैसा वेश है, यह कैसी चाल है। शरीर पर सादा कुरता, धोती भी ख़ूब साफ़ नहीं। पैरों में पुराना जूता।

वह गाँव का लड़का है, शहर में पढ़ता है, ट्यूशन करके अपना ख़र्च चलाता है।

राजकन्या कहाँ है?

उसी के घर के पास एक घर में।

चम्पे के फूल की तरह उसका रङ्ग नहीं है और न उसके हसने से मोती झरते है। आकाश के तारा के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती नवीन वर्षा का आगमन होने पर घर की आड़ में नाम-हीन जो फूल खिला रहता है उसी के साथ उसकी तुलना हो सकती है।

मातृ-हीना होने पर वह बाप का आदर पाती थी। बाप था ग़रीब, पर अपात्र के साथ लड़की का विवाह भी नहीं करना चाहता था। इसी तरह लड़की की उम्र बढ़ने लगी। सब लोग निन्दा करने लगे।

बाप भी मर गया। तब लड़की अपने काका के घर आई।

पात्र की खोज हुई। वर का जैसा अधिक धन था वैसी ही अधिक आयु थी। उसके पोते-पोतियों की संख्या कम नहीं थी। उसी तरह उसका रोब-दाब भी कम नहीं था।

काका ने कहा—लड़की का बड़ा भाग्य है।

पर हल्दी चढ़ने के दिन लड़की का पता नहीं चला और पास के घर के लड़के का भी।

फिर ख़बर मिली कि दोनों ने छिप कर विवाह कर लिया है। उन दोनों में जाति का भेद रहने पर भी मन का मेल था। सब ने निन्दा की।

लक्षाधीश ने अपने इष्ट देवता को सोने का सिंहासन देने की प्रतिज्ञा कर कहा—देखूँ, कौन इस लड़के को बचा सकता है।

लड़के को अदालत में खड़ा कर विचक्षण वकीलों ने साक्षी-देवता की कृपा से दिन को भी रात सिद्ध कर दिया। कितने आश्चर्य की बात है!

उसी दिन इष्ट-देवता के सामने दो बकरों का बलिदान हुआ, ढोल-दमामे बजे। सभी प्रसन्न हुए—कहने लगे, कलिकाल तो है, परन्तु अभी धर्म उठ नहीं गया है।

(३)

इसके बाद—अनेक बातें हैं। जेल से लड़का लौट आया। परन्तु दीर्घपथ का अन्त नहीं हुआ। अज्ञात देश के पथ से भी वह अधिक

दीर्घ और निर्जन था कितने ही बार अन्धकार में उसने मनुष्य-गन्ध की खोज में लगे हुए पिशाच का चीत्कार सुना। मनुष्य को खाने के लिए इतना लोभ !

रास्ते का अन्त न हो, पर चलने का तो अन्त होता ही है। एक दिन उसे भी रुकना पड़ा।

उस दिन उसको देखनेवाला कोई नहीं था। सिरहाने पर एक दयामय देव खड़ा था। वह था यम।

यम ने ज्यों ही सोने की छड़ी से उसे छुवा त्यों ही यह क्या हो गया—शहर चला गया और स्वप्न भी टूट गया।

इसके बाद घड़ी भर में फिर वह राजपुत्र दिखलाई पड़ा। उसके कपाल पर असीमकाल की राजटीका थी। वह दैत्यपुरी के द्वार को तोड़ेगा और राजकन्या को बन्धन–मुक्त करेगा।

युग युग में बच्चे अपनी मा की गोद पर बैठे हुए यही कथा सुनते हैं कि घर छोड़ कर वह मनुष्य अज्ञात देश को चला जा रहा है। सामने सात समुद्र की तरङ्गे गर्जन कर रही हैं;

इतिहास में उसके भिन्न भिन्न रूप हैं, परन्तु इतिहास के उस पार उसका एक ही रूप है। वह है राजपुत्र।

४–सिद्धि

(१)

स्वर्ग की अधिकार-प्राप्ति में मनुष्य को किसी प्रकार की बाधा न हो, यही उसका प्रण था। इसी से उसने बड़ी खोज से अमर होने का मन्त्र सीखा था। अब वह अकेला जङ्गल में उस मन्त्र की साधना में लगा है।

वन के एक कोने में लकड़ी बेचनेवाली एक लड़की थी। वह तपस्वी के लिए आँचल में भर कर फल और पत्ते के दोने में पानी ले आती थी।

क्रमशः तपस्या इतनी कठोर हो गई कि वह फल को छूता तक नहीं था। पक्षी आकर उसे खा जाते थे। कुछ दिन और बीते। तब

उसने पानी पीना भी छोड़ दिया। झरने का जल दोनों में ही सूख जाता था, उसके ओठ तक नहीं पहुँचता था।

लड़की सोचने लगी—अब क्या करूँ? मेरी तो सेवा ही व्यर्थ हो रही है।

इसके बाद वह फूल तोड़ कर तपस्वी के पैरों पर रख जाती थी। पर तपस्वी को इसका कभी अनुभव नहीं हुआ। दोपहर में जब धूप हो जाती थी तब वह आँचल फैला कर उस पर छाया करती। पर तपस्वी के लिए क्या धूप और क्या छाया। कृष्णपक्ष में जब रात खूब अँधेरी हो जाती थी तब वह जागती बैठी रहती। तपस्वी के लिए भय का कोई कारण नहीं था, तो भी वह पहरा देती।

(२)

एक दिन ऐसा भी आया जब तपस्वी ने बड़े स्नेह से लड़की से पूछा—तुम अच्छी तो हो? लड़की बोली—मेरे लिए अच्छा क्या और बुरा क्या। पर तुम्हारी देख-रेख करनेवाली क्या मा, बहन, कोई नहीं है?

तपस्वी ने कहा—हैं तो सब, पर क्या वे सदा मेरी देख-रेख कर सकते हैं? क्या वे सदा मुझे बचा रक्खेंगे?

लड़की बोली—प्राण चिरकाल तक नहीं रहते, तभी तो प्राण के लिए इतनी व्याकुलता होती है।

तपस्वी ने कहा—मैं तो खोजता हूँ ऐसा पथ जिससे चिरकाल तक बचा रहूँ। मैं मनुष्य को अमर बनाऊँगा।

यह कह कर तपस्वी ने फिर जितनी बातें कहीं वे उसने मानो अपने ही को कहीं। उनका मतलब समझेगा कौन।

लड़की ने कुछ समझा नहीं, पर आकाश में नवीन मेघ का शब्द सुनकर मयूरी का हृदय जैसे व्याकुल हो जाता है वही दशा उसके मन की हुई।

कुछ दिनों के बाद तपस्वी ने मौन-व्रत धारण किया। वह लड़की से बोलता तक नहीं था। कुछ दिन और बीत जाने पर उसकी आँखें भी बन्द हो गईं। वह अब लड़की को देखता भी नहीं था।

लड़की अपने मन में अनुभव करने लगी कि वह तपस्वी से तपस्या के सैकड़ों कोसों की दूरी पर है। हज़ारों वर्षों में भी इस विच्छेद को पार कर पास पहुँच जाने की आशा नहीं थी।

तब तो कोई आशा नहीं रही। फिर भी वह व्यथित होती; सोचती—यदि दिन में एक बार भी वे बोलते कि तुम कैसी हो तो उसी से मैं दिन काट लेती। यदि एक बार भी वे फल और पानी ग्रहण कर लेते तो मुझे भी अन्न-जल रुचता।

(३)

इधर इन्द्रलोक में ख़बर पहुँची कि मनुष्य मर्त्यलोक का उल्लङ्घन कर स्वर्ग पाने की इच्छा करता है। उसकी इतनी स्पर्धा हो गई है।

इन्द्र ने ऊपर से तो ख़ूब क्रोध प्रकट किया, पर मन ही मन वह डरने लगा। सोचा, दैत्य स्वर्ग-विजय करना चाहते थे अपने बाहु-बल से। उनके साथ लड़ाई होती थी। पर मनुष्य स्वर्ग लेना चाहता है दुःख के बल से। तो क्या उससे हार माननी पड़ेगी।

मेनका को बुला कर इन्द्र ने आज्ञा दी—जाओ उसकी तपस्या भङ्ग करो।

मेनका ने कहा—सुरराज, यदि स्वर्ग के अस्त्र से मर्त्यलोक का मनुष्य परास्त किया जाय तो इससे स्वर्ग का ही पराभव है। क्या मनुष्य का मरण-बाण स्त्री के हाथ में नहीं है।

इन्द्र ने कहा—यह भी तो सच है।

(४)

वसन्तकालीन पवन का झोका खाकर माधवी लता प्रफुल्ल हो उठी। इसी तरह एक दिन उस लकड़ी बेचनेवाली लड़की को भी नन्दन-वन की हवा आकर लग गई। एक प्रकार के औत्सुक्य-पूर्ण माधुर्य के उन्मेष से उसका हृदय व्यथित हो उठा। उसके मन की भावनायें छत्ते से मधुमक्खियों के समान उड़ने लगीं। उन्हें कहीं मधु की गन्ध मिल गई।

ठीक इसी समय साधना की एक क्रिया शेष हुई। अब उसे निर्जर गिरि-गह्वर में जाना पड़ेगा। उसने आँखें मलीं। सामने देखा कि लड़की के जूड़े में अशोक की मञ्जरी है और उसके शरीर पर वासन्ती रङ्ग की साड़ी। वह पहचान में आती थी और नहीं भी आती थी, मानो वह ऐसा सङ्गीत हो जिसका स्वर तो परिचित है पर पद स्मरण में नहीं आते।

तपस्वी आसन छोड़ कर उठा और बोला—मैं बड़ी दूर जाऊँगा।

लड़की ने पूछा—क्यों जायँगे प्रभो ?

तपस्वी—तपस्या पूर्ण करने के लिए।

लड़की ने हाथ जोड़ कर कहा—मुझे दर्शन के पुण्य से क्यों वञ्चित करते हैं ?

तपस्वी फिर आसन पर बैठ गया और कुछ सोचने लगा। पर उसने कुछ कहा नहीं।

(५)

तपस्वी ने लड़की के अनुरोध को मान लिया, पर यही बात उसके हृदय में चुभने लगी। वह सोचने लगी—मैं तो साधारण लड़की हूँ। तो मेरी बात से बाधा क्यों हो।

उसी रात पत्ते के बिछौने पर अकेली पड़ी पड़ी वह खुद अपने आप से डरने लगी।

दूसरे दिन सबेरे वह फल तोड़ कर ले आई और तपस्वी ने हाथ फैला कर ले लिया। उसने पत्ते के दोने में जल लाकर दिया और तपस्वी ने उससे पानी पिया। सुख से लड़की का हृदय पूर्ण हो गया। किन्तु इसके बाद नदी के किनारे शिरीष की छाया के नीचे उसकी आँखों के आँसू नहीं थमे। न जाने वह क्या सोचने लगी।

दूसरे दिन उसने तपस्वी को आकर प्रणाम किया और कहा—प्रभो, मैं आशीर्वाद चाहती हूँ।

तपस्वी—क्यों ?

लड़की—मैं बड़ी दूर जाऊँगी।

तपस्वी ने कहा—तुम्हारी साधना सिद्ध हो।

(६)

एक दिन तपस्या पूर्ण हो गई। इन्द्र ने आकर कहा—स्वर्ग पर तुम्हारा अधिकार हो गया। तपस्वी ने कहा—अब स्वर्ग की ज़रूरत नहीं है।

इन्द्र ने पूछा—तो तुम क्या चाहते हो ?

तपस्वी बोला—मैं इसी बन की लकड़ी बेचनेवाली लड़की को चाहता हूँ।

५–खिलौना

(१)

वह केवल नये नये खिलौने बनाया करता था। वे खिलौने राज-महल की राजकन्याओं के खेलने के लिए थे।

प्रतिवर्ष राजमहल के आँगन में खिलौने का मेला लगता था। उस मेले में बड़े बड़े कारीगर आते थे। परन्तु सब से अधिक प्रतिष्ठा उसी की होती थी। सब लोग उसी को सबसे ऊँचा स्थान देते थे।

जब वह सत्तर वर्ष का हो गया तब मेले में एक नया कारीगर आया। उसका नाम था किशनलाल। जैसी उसकी नई अवस्था थी वैसा ही उसका नया ढङ्ग था।

वह जो खिलौने बनाता था उनको कुछ तो गढ़ता था और कुछ नहीं गढ़ता था, कुछ तो रँगता था और कुछ यों ही छोड़ देता था। ऐसा जान पड़ता था कि वे खिलौने ख़तम ही नहीं होंगे, उनका कभी अन्त होने का नहीं।

नवयुवकों का दल कहने लगा—इस कारीगर का साहस प्रशंस-नीय है।

प्रवीणों के दल ने कहा—यह क्या साहस है ? यह तो धृष्टता है।

किन्तु नये युग में नये का ही प्राधान्य होता है। नवयुग की राज-कन्याओं ने कहा—हमें तो यही खिलौने चाहिए।

अतीत युग के अनुचरों ने कहा—छिः छिः, ये सब बुरे हैं।

परन्तु इससे तो राजकन्याओं की ज़िद बढ़ गई।

पुराने कारीगर की दूकान पर इस बार भीड़ नहीं हुई। झाबे में खिलौने घाट पर नाव की प्रतीक्षा में बैठे हुए यात्रियों की तरह उस पार ताकते हुए चुपचाप पड़े रहे।

एक वर्ष व्यतीत हुआ। बूढ़े का नाम सभी भूल गये। राज-महल के खिलौने के बाज़ार में किशनलाल ही सब का सरदार बन बैठा।

(२)

बूढ़े का जी टूट गया। अब उसे अपने जीवन के शेष दिन काटना कठिन हो गया। अन्त में उसकी लड़की ने आकर कहा—अब तुम चलो, हमारे घर मे रहो।

दामाद ने कहा—खाओ, पीओ, आराम करो और खेत की निग-रानी किया करो।

बूढ़े की लड़की सारा दिन अपने घर के ही काम में व्यस्त रहती थी। उसका दामाद मिट्टी के दिये बनाया करता था और उन्हें नाव पर लाद कर शहर में ले जाता था।

बूढ़ा यह नहीं समझ सकता था कि अब नया युग आ गया है। इसी तरह वह यह भी नहीं जानता था कि उसकी नतिनी पन्द्रह वर्ष की हो गई है।

वृक्ष के नीचे बैठ कर बूढ़ा खेत की रखवारी करता था और कभी कभी वहीं थक कर सो जाता था। वहीं उसकी नतिनी पीछे से आकर उसके गले में हाथ डाल कर लटक जाती थी। उस समय बूढ़े का एक एक रोम खुश हो जाता था।

एक दिन बूढ़े ने पूछा—क्यों बेटी, तुम्हें क्या चाहिए?

नतिनी ने कहा—हमारे लिए खिलौने बनाओ।

बूढ़े ने कहा—बेटी, मेरे बनाये खिलौने क्या तुम पसन्द करोगी?

नतिनी बोली—क्यों नहीं, तुमसे अच्छा खिलौना बना ही कौन सकता है?

बूढ़े ने कहा—क्यों, किशनलाल तो बनाता है।

नतिनी बोली—उसकी ताक़त क्या।

उस दिन से रोज़ दोनों में इसी तरह बात-चीत होती थी। बार बार वही एक बात होती थी। इसके बाद बूढ़ा अपनी झोली के सामान निकालता। आँखों में चश्मा लगा कर वह खिलौने बनाने बैठता। परन्तु उसी समय उसको खेत की याद आती। तब वह कहता—बेटी, कौए भुट्टा तो खा जायँगे।

नतिनी कहती—नाना, कौओं को मैं उड़ा दूँगी।

(३)

बूढ़े को सब से अधिक डर था अपनी लड़की का। उसका शासन भी बड़ा कठोर था। वह घर के काम-काज में बड़ी सावधान रहती थी।

बूढ़ा एकाग्र मन से खिलौना बनाने में लगा था। पीछे से उसकी लड़की आगई। उसकी आवाज़ सुन कर बूढ़ा उसकी ओर चश्मा उठा कर अबोध बालक की तरह ताकने लगा।

लड़की ने कहा—दूध दुहा हुआ रक्खा है। तुम सुभद्रा को यहीं लिये बैठे हो। इतनी बड़ी लड़की हो गई है, वह क्या अब खिलौना खेलेगी—या घर का काम-काज देखेगी।

बूढ़ा तुरन्त बोल उठा—नहीं, इन खिलौनो को तो मैं राजमहल में बेच आऊँगा। जिस दिन सुभद्रा का वर आवेगा उस दिन मैं उसे मोहन-माला पहनाऊँगा। उसी के लिए रुपया कमाने की फ़िक्र कर रहा हूँ।

लड़की ने विरक्त होकर कहा—राजमहल में तुम्हारे खिलौनों को कोई ख़रीदेगा भी?

बूढ़े का सिर नीचा हो गया। वह चुप रह गया। सुभद्रा सिर हिला कर बोली—मैं देखूँगी, नाना के खिलौनों को राजमहल में कौन नहीं खरीदता।

(४)

दूसरे ही दिन सुभद्रा ने एक मोहर लाकर अपनी मा को दी और कहा—यह लो, नाना, के खिलौने का दाम।

मा ने पूछा—यह कहाँ मिली।

लड़की बोली—मैं ख़ुद राजमहल में जाकर खिलौना बेच आई।

बूढ़ा हँसते हँसते कहने लगा—बेटा, फिर भी तुम्हारा नाना अब आँखों से नहीं देख सकता या उसका हाथ काँप जाता है।

मा ने खुश होकर कहा—इसी तरह की सोलह मोहरें हो जायँ तो सुभद्रा के लिए हार बन जाय।

बूढ़ा बोला—अब कुछ चिन्ता नहीं।

सुभद्रा ने बूढ़े का गला पकड़ कर कहा—क्यों नाना, मेरे वर की भी चिन्ता नहीं है?

बूढ़ा हँसने लगा और आँखों से आँसू की एक बूँद टपक पड़ी।

(५)

बूढ़े की युवावस्था लौट आई। वह वृक्ष के नीचे बैठ कर खिलौने बनाता था और सुभद्रा कौआ उड़ाती थी।

एक एक कर सोलह मोहरें हो गईं। सुभद्रा का हार पूरा हो गया।

मा ने कहा—अब तो वर आना चाहिए।

सुभद्रा ने बूढ़े के कान में धीरे से कहा—नाना, वर तो ठीक हो गया है।

बूढ़े ने पूछा—अच्छा! उसे पाया कहाँ?

सुभद्रा बोली—जिस दिन मैं खिलौना बेचने के लिये राजमहल गई उस दिन द्वारपाल ने कहा—ये खिलौने तो पुराने हो गये हैं। अब इन्हें कोई नहीं खरीदेगा। तब मैं उदास होकर लौटने लगी। मुझे उदास

देख कर एक आदमी ने कहा—मुझे ये खिलौने दो। मैं इन्हें कुछ सजा दूँ तो ये बिक जायँगे। नाना, यदि तुम पसन्द करो तो मैं उसी को जय-माला पहनाऊँगी।

बूढ़े ने पूछा—वह कहाँ है ?

सुभद्रा ने कहा—वह बाहर खड़ा है।

वह भीतर आया। बूढ़े ने उसे देखते ही कहा—यही तो किशन-लाल है।

किशनलाल ने बूढ़े का चरण-रज लेकर कहा—हाँ, मैं ही किशन-लाल हूँ।

बूढ़े ने किशनलाल को छाती से लगा कहा—भाई, एक दिन तुमने मुझसे मेरे हाथ का खिलौना छीन लिया था। आज तुम मेरे हृदय का खिलौना छीन रहे हो।

६—स्वर्ग में भूल

वह बिलकुल बेकार था, अकर्मण्य था।

उसका कोई काम नहीं था। सिर्फ तरह तरह के शौक़ थे।

वह लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़ों पर मिट्टी डाल कर उन्हें सजाया करता था। यही एक उसका काम था।

घर में सभी उसका तिरस्कार करते थे। अपमान की हद नहीं थी। कभी कभी वह प्रतिज्ञा करता था कि मैं यह पागलपन छोड़ दूँगा। पर पागलपन उसको नहीं छोड़ता था।

कोई कोई लड़के साल भर तक बिलकुल नहीं पढ़ते। फिर भी वे परीक्षा में पास हो जाते हैं। ठीक यही दशा उसकी हुई।

सारा जीवन तो उसने बिना काम किये ही काट डाला। मृत्यु के बाद उसे ख़बर मिली कि वह स्वर्ग में स्थान पा गया है। परन्तु, भाग्य स्वर्ग-पथ में भी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता। दूतों ने भूल से उसे अकर्मण्यों के स्वर्ग में न ले जाकर कर्मण्यों के स्वर्ग में रख दिया।

(२)

उस स्वर्ग में सब कुछ था, सिर्फ़ अवकाश नहीं था।

यहाँ पुरुष कहा करते थे, दम लेने की फ़ुरसत नहीं। स्त्रियाँ कहती थीं, मैं तो चली, काम पड़ा है। सभी कहते थे कि समय का मूल्य है। कोई भी यह नहीं कहता था कि समय अमूल्य है।

सभी कहते थे, और तो हमसे कुछ नहीं हो सकता। फिर भी सब खुश रहते थे। 'काम करते करते हैरान हो गया' यही उनकी एक बात थी।

वह बेचारा कहीं भी फ़ुरसत नहीं पाता था। किसी से भी उसका मेल नहीं खाता था। रास्ते पर वह अन्यमनस्क होकर चलता था। इससे कार्य-व्यस्त लोगों को बड़ी बाधा होती थी। चद्दर फैलाकर वह अगर कहीं बैठ कर आराम करना चाहता तो कोई आकर कहता—अरे भाई, यह खेत है। यहाँ बीज बो दिया गया है। तब उसे उठकर चला जाना पड़ता था।

(३)

रोज एक लड़की बड़ी व्यस्त होकर स्वर्ग के एक झरने के घड़े में जल भरने आती थी।

रास्ते पर वह सितार की द्रुतगति की तरह चलती थी।

वह जल्दी जल्दी बालों को सँभाल कर जूड़ा बाँध लेती थी। फिर भी दो चार अलकें उसके कपोल पर झुकी रहती थीं मानों वे उसकी आँखों की कालिमा देखने के लिए झाँक रही हैं।

वह बेकार झरने के किनारे एक ओर चुपचाप वृक्ष की तरह खड़ा रहता था।

खिड़की से किसी भिक्षुक को देख कर जिस प्रकार राजकन्या को दया आती है, उसी प्रकार उस बेकार को देखकर लड़की का हृदय दया-पूर्ण हो गया।

लड़की बोली—जान पड़ता है कि तुम्हें कोई काम नहीं है।

निश्वास लेकर उसने कहा—काम तो करूँ, पर उसके लिए समय

नहीं है।

लड़की कुछ समझ न सकी। बोली—मुझसे काम लोगे ?

वह बोला—तुम्हीं से काम लेने के लिए तो मैं यहाँ खड़ा हूँ।

लड़की ने कहा—क्या काम दूँ।

वह बोला—तुम पानी भरने के लिए जो घड़े लाती हो उसमें से एक घड़ा हमको दो।

"घड़ा लेकर क्या करोगे ? पानी भरोगे !"

"नहीं, मैं उस पर चित्र बनाऊँगा"। लड़की ने विरक्त होकर कहा—मैं जाती हूँ, मुझे फुरसत नहीं।

परन्तु निठल्लों के साथ कार्य-व्यस्त लोगों का कार्य किस तरह चल सकता है। रोज़ उसी झरने के पास दोनों की भेंट होती थी और रोज़ वह यही कहा करता था—मुझे अपना एक घड़ा दो। मैं उस पर चित्र बनाऊँगा।

हार मान कर लड़की ने घड़ा दे दिया।

उसको लेकर वह उस पर चित्र बनाने लगा। कितने तरह के रङ्ग थे और कितने तरह की रेखायें।

चित्र बन जाने पर लड़की ने उसको खूब ध्यान से देखा, फिर भौंहें टेढ़ी कर पूछने लगी—इसका मतलब ?

वह बेकार बोला—इसका कुछ भी मतलब नहीं।

घड़ा लेकर लड़की घर चली गई। दिन में सबकी आँख बचाकर वह उसे देखा करती थी। रात में बिछौने से उठकर दिया जलाकर वह उस चित्र को देखती थी। अपने जीवन में उसने पहली बार एक ऐसी चीज़ देखी जिसका कुछ अर्थ नहीं।

दूसरे दिन जब वह झरने के किनारे आई तब उसके पैरों की द्रुतगति में एक बाधा सी पड़ गई थी, मानों वे भी चलते चलते कुछ अनमने से हो रहे हैं, कुछ ऐसी बात सोच रहे हैं जिसका कुछ अर्थ नहीं।

उस दिन भी उस बेकार से भेंट हुई।

लड़की ने पूछा—अब क्या चाहते हो ?

"तुमसे काम माँगता हूँ।"

"कौन सा काम दूँ !"

"यदि स्वीकार करो तो रङ्गीन सूत बुनकर मैं तुम्हारी बेणी बाँधने के लिए डोरा तैयार कर दूँ॥

"उससे क्या होगा ?"

"कुछ नहीं।"

तरह तरह के डोरे तैयार होने लगे। अब आइना लेकर बेणी बाँधने में लड़की को देरी होने लगी। काम पड़ा रहता था, समय चला जाता था।

(४)

देखते देखते कर्मण्यों के स्वर्ग में एक बड़ा भेद आ गया।

विज्ञ लोग चिन्तित हुए। सभा की गई। वे बोले, पहले ऐसा कभी नहीं हुआ।

स्वर्ग-दूत ने अपना अपराध स्वीकार किया, बोला—मैं भूल से एक निठल्ले को ले आया।

वह बेकार सभा में बुलाया गया। उसकी रङ्गीन पगड़ी और कमर-बन्द देखकर लोगों ने समझ लिया कि सचमुच बड़ी भूल हुई।

सभापति ने कहा—तुम्हें पृथ्वी पर लौट जाना होगा। वह अपनी रङ्गीन झोली को हिलाते हुए बोला—तब मैं चला।

लड़की बोली—मैं भी जाऊँगी।

सभापति कुछ अन्यमनस्क सा हो गया। उसने भी पहली बार एक ऐसी घटना देखी जिसका कुछ मतलब नहीं।

७—अनन्त प्रेम

(१)

उन दिनों, इसी देश में, चौदह वर्ष की एक लड़की थी। उसका

नाम था मर्तिनी। उसका अन्त काल आ गया। वह अचानक एक रोग से आक्रान्त हुई। उसके बचने की कोई सम्भावना नहीं थी। उसके मा-बाप गरीब देहाती थे। एक छोटा सा खेत और एक कुटी छोड़कर उनके पास कुछ नहीं था। यही कन्या उनका सर्वस्व थी। उस पर उनका अगाध प्रेम था। कन्या का अन्तकाल देखकर वे बड़े शोक-विह्वल हो रहे थे। विशेष विकलता का एक कारण यह था कि उनकी कुटी गाँव से बहुत दूर थी और मृत्यु के पहले गाँव का पुरोहित आ जाय, इसकी आशा नहीं थी। मा बड़ी धर्मिष्ठ थी। उसकी कन्या पुरोहित से अपने गुप्त पाप कह कर अन्त-काल में निष्कृति न पा सके, यह उसके लिए बड़ी चिन्ता की बात थी।

दोनों इसी चिन्ता में थे कि उन्होंने किसी की आवाज़ सुनी—कुछ चिन्ता की बात नहीं है।

शोकातुर होने पर भी यह आवाज़ सुनकर दोनों मुग्ध हो गये। उन्होंने देखा कि रोगिनी के बिछौने के पीछे एक स्पष्ट शुभ्र मूर्ति सी खड़ी है। उसके दो पंख हैं। उन लोगों ने फिर आवाज़ सुनी। वह मूर्ति कहने लगी—मैं मर्तिनी का रक्षक देवता हूँ। कोई भी देवता पुरोहित का स्थान ग्रहण कर पाप-प्रक्षालन कर सकता है। इसमें कोई हानि नहीं है। तुम लोग उस ओर मुँह फेर कर कोने में खड़े हो जाओ। तुम्हारी कन्या मुझसे अपने पापों का हाल बतलावेगी। वह बिलकुल निर्दोष है। क्षण भर में मेरा काम पूरा हो जायगा।

(२)

आजकल यह सम्भव नहीं है कि कोई स्त्री किसी देवदूत के सामने अपना पाप स्वीकार करे। परन्तु एक समय इसी देश में ऐसी घटना हो गई है। मर्तिनी ने अपने छोटे छोटे सभी दोषों को स्वीकार कर लिया और देवदूत उन पापों से उसको मुक्त कर उसे आशीर्वाद देने लगा। इसी समय मर्तिनी को एक और पाप की सुध आई। उसने अपनी एक सखी के पास बड़ा सुन्दर गुलूबन्द देखा था। उसे देखकर

उससे न रहा गया, उसने उसे चुरा कर छिपा लिया। इसमें दो अपराध थे। एक तो सुन्दर गुलूबन्द पहनकर पुरुषों के चित्त आकृष्ट करने की वासना और दूसरी चोरी। देवदूत ने उसका यह अपराध सुन कर कहा—मैं नहीं जानता कि मुझे इसके लिए तुम्हें क्षमा करनी चाहिए या नहीं। वह गुलूबन्द कहाँ है ?

"तकिये के नीचे।"

"उसे लौटाना होगा।"

"मैं तैयार हूँ। परन्तु मैं रोग से कातर हूँ, उठ-बैठ सकती नहीं, चलने की कौन कहे। मैं किस तरह लौटा सकूँगी। उसका घर इस खेत के दूसरी ओर है।"

देवदूत ने कहा—इसमें कोई बाधा नहीं। एक काम करो। तुम अपना रोग मुझे दो और मेरा स्वास्थ्य तुम लो। तुम्हारे बदले मैं इस बिछौने पर पड़ा रहूँगा। तुम्हारे मा-बाप जान नहीं सकेंगे। मैं अपने पंख को चद्दर के नीचे छिपा रक्खूँगा।

मर्तिनी बोली—आपकी जो आज्ञा। मैं वही करूँगी जो आप कहेंगे।

"परन्तु मैं तुम्हें सावधान किये देता हूँ। रास्ते में देरी मत करना। बात यह है कि अगर तुम्हारे आने में देरी हुई और तुम्हारे आने के पहले तुम्हारे मृत्यु-काल का डंका बज गया तो मैं संकट में पड़ जाऊँगा। तुम्हारी जगह मुझे मरना पड़ेगा।

लड़की बोली—इसकी चिन्ता मत कीजिए। मैं कभी आपको ऐसे संकट में नहीं डालूँगी। मैं पल भर में लौट आऊँगी।

देवदूत की कृपा से स्वास्थ्य पाकर मर्तिनी खाट से उठ गई। वह चुपचाप कपड़े पहन कर तुरन्त धीरे से दरवाजा खोल कर घर के बाहर हुई।

(३)

कितनी ही झाड़ियों और खंदकों को पार कर मर्तिनी जल्दी जल्दी जाने लगी। यद्यपि रात अँधेरी थी तो भी वह अच्छी तरह रास्ता

जानने के कारण भटकी नहीं। वह शीघ्र ही अपनी सखी के घर पहुँच गई। उसने धीरे से दरवाज़ा खोला और भीतर जाकर सन्दूक में गुलूबन्द को बन्द कर दिया। सौभाग्य से उस समय कोई वहाँ नहीं था। गुलूबन्द रख कर मर्तिनी घर लौटी। सच्ची बात कहनी होगी। लौटते समय उसकी गति मन्द पड़ गई। तब क्या वह देवदूत को स्वास्थ्य लौटाना नहीं चाहती थी ? नहीं, यह बात नहीं थी। मर्तिनी की पारलौकिक सद्‌गति के लिए देवदूत ने जो उपकार किया था उसे वह भूल नहीं गई थी और न वह अपनी प्रतिज्ञा को ही भूली थी। परन्तु वह बिलकुल थक गई थी। इसी समय चन्द्रोदय हुआ और एक कोयल बोल उठी—कुहू-कू। मर्तिनी के पैर रुक गये। चन्द्रमा के इस शीतल प्रकाश में कोयल की यह मधुर ध्वनि सुनकर कौन नहीं मुग्ध होगा। वह सोचने लगी--कल भी चन्द्रोदय होगा। कल भी आकाश में यही तारे उदित होंगे। परन्तु वह यह शोभा न देख सकेगी। वह अपने उसी बिछौने पर चिरनिद्रा में पड़ी रहेगी। यह बात सोच कर उसे बड़ा विषाद हुआ। परन्तु पलभर में विषाद दूर कर वह तेज़ी से चलने लगी। कुटी दिखाई देने लगी। इतने में वेला की मधुर ध्वनि सुनाई दी। उसी की कुटी के दूसरी ओर एक घर में गाँव भर के लोग एकत्र थे। नाच हो रहा था। मर्तिनी रुक गई। वह मुग्ध होकर सङ्गीत सुनने लगी। फिर उसने सोचा—अब मेरा घर तो दूर है नहीं। एक बार मैं भी नाच लूँ। बस, यही अन्तिम बार है। देवदूत को अवश्य कष्ट होगा। देरी करना अच्छा नहीं। परन्तु एक बार नाच लेने में क्या हानि है।

(४)

एक नाच के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इसी तरह मर्तिनी नाचती ही गई। प्रत्येक नाच के पहले मर्तिनी कहती—बस, यह अन्तिम है। अब मैं मरने के लिए जाऊँगी। परन्तु जब नृत्य का सङ्गीत प्रारम्भ होता तब उसमें इतना मनोबल नहीं था कि उसे छोड़ कर वह चली जाती। उसे अनुपात होता था। परन्तु वह कुछ कर नहीं सकती थी।

दो बज गये। तब तो मर्तिनी दृढ़ निश्चय कर नृत्यशाला के बाहर जाने लगी। इसी समय एक सुन्दर युवक उसके सामने आ कर खड़ा हुआ। इतना सुन्दर युवक मर्तिनी ने पहले कभी नहीं देखा था। वह गाँव का किसान नहीं था, न ज़मींदार था। वह था राजा। रास्ता भूल जाने के कारण वह इधर निकल पड़ा था। मर्तिनी को देख कर वह उसपर मुग्ध हो गया। दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो गये। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। दोनों स्तम्भित से रह गये। अन्त में राजा ने उसे अपना हृदय अर्पण कर दिया। मर्तिनी अपनी प्रतिज्ञा न भूलकर भी भूल गई। वह राजा के साथ गाड़ी में बैठ कर चली गई। परन्तु जाते समय उसे यह सोचकर बड़ा विषाद हुआ कि देव-दूत मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ उसकी राह देख रहा है।

(५)

मर्तिनी रानी हो गई। उसका वैभव अपरिमित था। बड़े बड़े महल थे। नित्य एक न एक उत्सव होता रहता था। उसके सौन्दर्य की बड़ी ख्याति थी। वह बहुमूल्य गलीचे पर चलती थी, बहुमूल्य वस्त्र पहनती थी और बहुमूल्य अलङ्कार धारण करती थी। परन्तु यह वैभव उसको विमुग्ध नहीं कर सका। राजा के प्रति उसका जो प्रेम था और उसके प्रति राजा का जो प्रेम था उसी से वह मुग्ध थी। उसके इस प्रेम की कोई तुलना नहीं है। उन दोनों को ऐसा मालूम होता था कि संसार में उन्हें छोड़ कर और कोई तीसरा है ही नहीं। मर्तिनी देवदूत को बिलकुल ही भूल गई। इस सुख-सागर में डूब कर उसे किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव करने का अवसर ही नहीं मिला। दूत की बात अतीत की बात हो गई। अतीत की कोई भी बात उसे चिन्तित नहीं कर सकती थी। वह प्रतिदिन निश्चिन्त होकर सोती थी। किन्तु एक दिन एक भयानक घटना हो गई। राजा अचानक अन्तर्हित हो गये। कोई यह न जान सका कि वे कहाँ गये। किसी ने उन्हें नहीं देखा। उनका एक दम लोप हो गया।

(६)

जब मर्तिनी पर यह वज्राघात हुआ, जब वह अकेली होगई, तब उसे देवदूत की सुधि आई। देवदूत ने न जाने कितने दिनों तक उसकी राह देखी होगी। न जाने कितना कष्ट भोगा होगा और वही देवदूत की मृत्यु का कारण हुई। मर्तिनी अपने को धिक्कारने लगी। अन्त में एक दिन वह दरिद्र का वेश धारण कर अपने पुराने गाँव की ओर चली। वह जानती थी कि उसने जो अपराध किया है उसका कोई प्रतिकार नहीं है, वह केवल उस पुण्यस्थान को देखना चाहती थी जहाँ देवदूत ने उसके लिए मृत्यु की यन्त्रणा सही। घर पहुँचने पर उसने देखा कि उसका घर बिलकुल टूट-फूट गया है। पड़ोस के लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि कन्या की मृत्यु हो जाने पर उसके मा-बाप घर छोड़ कर चले गये। कहाँ गये, उसका पता किसी को नहीं था। पहाड़ के नीचे जो श्मशान भूमि है वहीं उसकी कन्या की क़ब्र है। यह सुनकर मर्तिनी को यह निश्चय होगया कि मेरे स्थान में देवदूत ही क़ब्र में रक्खा गया। मर्तिनी ने सोचा—जाऊँ एक बार देवदूत के समाधि-स्थान पर जाकर प्रार्थना करूँ। जब यह श्मशान भूमि में पहुँची तब उसने देखा कि एक छोटी सी क़ब्र पर एक क्रास के नीचे लिखा हुआ था—मर्तिनी। मर्तिनी का हृदय व्यथा से फटने लगा। वह रोती रोती प्रार्थना करने लगी भगवन्! मुझसे कैसा पाप हुआ। अचानक किसी की आवाज़ सुनाई पड़ी। मर्तिनी चकित होकर सुनने लगी। किसी ने कहा—मर्तिनी, हताश मत हो। तुम जितना बुरा समझती हो उतना बुरा नहीं हुआ है।

मर्तिनी ने सिर उठा कर देखा कि क्रास के पास एक शुभ्र स्पष्ट मूर्ति खड़ी है। मूर्ति ने कहा—मैं तुम्हारा रक्षक देवता हूँ। तुम देखती हो, मैं सशरीर उपस्थित हूँ। अब तुम इस क़ब्र में जाकर सोओ, मैं तुम्हारी आत्मा को स्वर्ग ले जाऊँगा।

"मेरे रक्षक देव, तुमने मेरे लिए न जाने कितना कष्ट सहा होगा।"

"नहीं मैं जानता था कि तुम लौट नहीं सकोगी। इससे मैं भी

तुम्हारे जाने के बाद तुम्हारे पीछे पीछे रवाना हुआ। और जब तक तुम्हारी समझ में मुझे क़ब्र में रहना पड़ा तब—"

"तब तक तुम कहाँ थे ?"

"तब तक, हे हृदयेश्वरी, मैं अपने महल में था। वहाँ तुम मुझे कितना प्रेम करती थी। अब स्वर्ग में भी तुम मुझ पर यही स्नेह रक्खोगी।"

८—निष्क्रिय प्रतिरोध

पराजित देश का एक व्यक्ति अपने देश की विजय का उपाय सोचने लगा। बहुत सोच-विचार कर अन्त में उसने यह निश्चय किया कि अब तक मैंने बल-प्रयोग से अन्याय का प्रतिरोध करने की चेष्टा की है। अब मैं अपनी यह चेष्टा छोड़ दूँगा। देखूँ, धैर्य और सहिष्णुता से जय-लाभ कर सकता हूँ या नहीं।

यह व्यक्ति दुर्बल-चरित्र का मनुष्य नहीं था। उसे अपने निश्चय से कोई भी नहीं हटा सकता था। एक बार वह जो निश्चय कर लेता था उसी पर वह दृढ़ रहता था। इस बार भी वह ऐसी ही दृढ़ प्रतिज्ञा कर अपना कार्य करने लगा।

उस देश को जिस राजा ने पराजित कर स्वायत्त किया था उसका नाम था इजमन। उसने नगर के कुछ विशेष लोगों पर देख-रेख करने के लिए अपने नौकरों को आज्ञा दी थी। उन लोगों ने राजा से जाकर निवेदन किया—महाराज, एक आदमी का रङ्ग-ढङ्ग बड़ा विचित्र है। वह न तो कभी बाहर जाता है और न किसी से मिलता-जुलता है। जान पड़ता है कि वह अधिकारियों को इस धोखे में रखना चाहता है कि वह नगर छोड़ कर चला गया है।

राजा ने क्रुद्ध हो कर आज्ञा दी—अच्छा, उसे अभी पकड़ कर हमारे पास ले आओ।

राजकर्मचारियों ने तुरन्त ही उसे पकड़ कर राजा के सम्मुख उप-

स्थित किया। राजा ने आज्ञा दी—देखो, उसके पास क्या है।

उसके पास ऐसी कोई भी मूल्यवान् चीज़ नहीं थी। जो कुछ चीज़ें थीं वे सब राजा के पास पहुँचा दी गईं।

जब वह व्यक्ति राजा के सामने आया तब राजा उसका रङ्ग-ढङ्ग देख कर समझ गया कि यह मामूली आदमी नहीं है। तो भी उसे डराने के लिए उन्होंने गरज कर कहा—देखता हूँ, तुम आ गये हो।

उस व्यक्ति ने शान्त-भाव से उत्तर दिया—हाँ, आ गया हूँ। मेरे पास जो कुछ था सब लेकर आया हूँ। कुछ भी नहीं छोड़ा।

राजा ने पूछा—अच्छा, अब तुम क्या करते हो?

उसने कहा—मैं तो कुछ नहीं करता। परन्तु मैंने अब यह निश्चय किया है कि सहिष्णुता से ही मैं जय प्राप्त करूँगा।

राजा जल उठा, क्रुद्ध स्वर से बोला—अच्छा, अभी तुम्हारी जय-प्राप्ति की लालसा बनी ही है।

उसने कहा—हाँ, यह लालसा तो बनी ही रहेगी। अन्याय पर विजय प्राप्त करनी ही होगी।

राजा ने कहा—यह धृष्टता। चुप रह, मैं कुछ भी नहीं सुनना चाहता। उसने कहा—मैं तो आपकी बात नहीं कहता हूँ। मेरा मतलब यह नहीं है कि मैं आपके ऊपर जय-प्राप्त करूँ।

राजा को विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—तब तुम किसे जीतना चाहते हो?

वह बोला—मैं अपने ही को जीतना चाहता हूँ।

राजा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—अभी तो तुमने कहा है कि मैं अन्याय का दमन करना चाहता हूँ। वह अन्याय क्या है?

व्यक्ति—प्रतिरोध और प्रतिघात की चेष्टा।

राजा—झूठी बात।

व्यक्ति—मैं झूठ कभी नहीं बोलता।

भय और विस्मय से राजा के मस्तक पर पसीने की बूँदें दिखाई

देने लगीं। राजा सोचने लगा—माजरा क्या है ? इस आदमी को हो क्या गया है उन्होंने फिर पूछा—तुम चाहते क्या हो ? उसने कहा—मैं कुछ नहीं चाहता।

"सच ?"

"सच।"

ओठ के ऊपर ओठ दबा कर राजा सोचने लगा—तभी तो।

राजा बड़ा भावुक था। उसमें यथेष्ट स्फूर्ति थी। परन्तु वह किसी की धृष्टता नहीं सह सकता था। यह उसके लिए असह्य था कि कोई किसी भी विषय में उसे बाधा देने की चेष्टा करे। इसी से प्रतिरोधकारियों का प्रतिरोध कितना ही तीक्ष्ण क्यों न हो, सबका दमन कर देता था। परन्तु अब विद्रोहियों का विषदन्त टूट गया है, अब वह निश्चिन्त हो गया है। तो भी इससे वह तुष्ट नहीं हुआ।

कुछ देर बाद के उसने फिर उस व्यक्ति से पूछा—कुछ दिनों के पहले तो तुम्हारा कुछ दूसरा ही मतलब था। अब तुम्हारा मत कैसे बदल गया ? क्या कारण है।

उसने उत्तर दिया—कारण कुछ नहीं है। यह तो मनुष्य की मानसिक अवस्था का स्वाभाविक विकास है।

राजा ने कहा—हाँ, भाई, ठीक कहते हो। हमारा जीवन तो इसी प्रकार का है। आज उसकी गति एक ओर है तो कल दूसरी ओर। अपना पथ हम स्वयं निश्चित नहीं कर सकते। व्यर्थ एक पथ से दूसरे पथ में भटकते फिरते हैं।

इस बात को इजमन ने कुछ दुःख से कहा। वह जानता था कि अपनी मातृभूमि को पराधीन देख कर इस व्यक्ति को बड़ा दुःख होता होगा। पर उसका सन्देह दूर नहीं हुआ। वह सोचने लगा, प्रजा का यह शान्ति-प्रिय व्यवहार देखने में तो अच्छा लगता है, परन्तु यदि समस्त देश निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रवृत्त हो जाय तो हमारा राज्य किस प्रकार चलेगा ? प्रजा-शासन, कर संग्रह ये सब कैसे सम्पन्न होंगे ?

मन्त्रणा-सभा, विचारालय आदि तो बन्द हो जावेंगे। इसका मतलब क्या है ? एक बार इसकी परीक्षा करके तो देखें।

राजा ने नौकरों को हुक्म दिया— देखो, रोज़ इसी आदमी से हमारा अस्तबल साफ कराओ।

राजा की आज्ञा का पालन हुआ। वह प्रतिदिन चुपचाप अस्तबल साफ करने लगा। राजा उसका धैर्य और सहिष्णुता देखकर अवाक् रह गया। कुछ दिनों के बाद उन्होंने उसको इससे भी कड़ा काम दिया। परन्तु उसको भी उसने अक्लान्त भाव से सम्पन्न किया। श्रद्धा से राजा का हृदय भर गया। इतना विद्वान् और शिक्षित होकर भी वह नीच से नीच काम को सहर्ष कर लेता है। राजा ने उस व्यक्ति को बुला कर कहा—मैं तुम पर पूरा विश्वास करता हूँ। जाओ, अपने देशवासियों में अपने सत्य का प्रचार करो।

इसके थोड़े ही दिनों के बाद वह व्यक्ति समस्त देश का श्रद्धा-भाजन हो गया। सभी ने उसको नेता स्वीकार कर लिया। वह जो कहता था वही उनके लिए वेद-वाक्य था। सभी लोग उसकी नीति का अनुसरण कर निश्चेष्ट हो गये। जिसकी जो इच्छा हो करे, वे किसी को नहीं रोकते थे। चोर उनका सर्वस्व ले जाय, वे उसको बाधा नहीं देते थे। किसी का कोई कर्तव्य भी है, यह बात वे सब भूल गये।

उसने कहा—शास्त्र में लिखा है कि मनुष्य का जीवन बड़ा दुःख-मय है। वासना तो जीवन को और भी दुःखमय करती है। दुःख दूर करने के लिए सभी वासनाओं को वर्जित करना होगा। जब हमारे जीवन में किसी प्रकार की वासना नहीं रहेगी तभी हमारी ग्लानि दूर होगी।

यह सुन कर सब लोगों ने कहा—यह बात बिलकुल ठीक है। वासना-निवृत्ति के साथ हमारे सभी कर्म शान्त होंगे। फिर किसी प्रकार की आवश्यकता हमें न रहेगी।

कुछ दिनों के बाद इजमन ने देखा कि उसके चारों ओर गम्भीर

शान्ति है । विस्मित होकर इजमन सोचने लगा—ये सब बड़े दुष्ट हैं, हमें धोखा देना चाहते हैं ।

इसी बीच देश भर में कीड़े-पतिङ्गे छा गये । कोई उन्हें मारता नहीं था, त्रास तक नहीं देता था ।

एक दिन इजमन ने एक नौकर को बुलाकर कहा—इन कीड़ों को हटाओ ।

उसने कहा—महाराज, मैं इन्हें नहीं हटा सकता ।

राजा ने कहा—क्यों ?

वह बोला—उनके भी तो प्राण हैं । उन्हें मारने से क्या अच्छा होगा ?

इजमन ने क्रुद्ध होकर कहा—मेरी बात नहीं सुनोगे तो मैं तुम्हारा सिर कटा लूँगा ।

नौकर ने विनीत भाव से उत्तर दिया—महाराज की जैसी इच्छा हो ।

उस दिन से सभी काम इसी प्रकार होने लगे । जब इजमन किसी से कुछ कहता तब वह यही उत्तर देता—महाराज को जैसी इच्छा हो । परन्तु कार्य के समय पर कोई काम नहीं करता था । तब उसकी आज्ञा का पालन कौन करता ?

राज्य के सभी काम एक एक कर बन्द हो गये । सभी की कर्म-शक्ति लुप्त हो गई । बैठे बैठे थक कर सभी सोने लगे । आलस्य का यह भार इजमन के लिए असह्य हो गया । वह पहले की बातें सोचता था । कैसे अच्छे दिन थे । कितना काम था । प्रजा विद्रोह करती थी और उसका दमन करना पड़ता था । आज यहाँ सैन्य भेजो और कल वहाँ सैन्य भेजो । परन्तु अब तो सारे देश में आलस्य छा गया है । आज समग्र जाति ध्वंसोन्मुख है । इसका क्या परिणाम होगा । अन्य देशों को देखो, वे कैसी उन्नति कर रहे हैं । हमारी क्या दशा है ।

इज़मन अधिक सोच नहीं सका । वह नगर में एक एक के घर

जाकर उनका हाथ पकड़ कर कहने लगा—उठो, यह तुम क्या कर रहे हो ! इस प्रकार निराश और निश्चेष्ट पड़े रहने से लाभ क्या ?

परन्तु निर्जीव और मृतप्राय देशवासियों ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप पड़े रहे।

इजमन ने दूसरा उपाय सोचा, वह एक एक के कान के पास जा कर कहने लगा—देखो, तुम्हारा सर्वनाश उपस्थित है। तुम्हारे देश पर शत्रु चढ़े आ रहे हैं। उनको रोको।

क्षीण स्वर में एक ने कहा—देश-रक्षा भगवान् के हाथ में है। हम क्या कर सकते हैं।

इजमन ने चीत्कार करके कहा—एक बार उठ कर देखो तो, तुममें कुछ रोकने की शक्ति है या नहीं।

यह बात सुन कर उनमें से एक बोला—रोकने की ज़रूरत ही क्या है ? किसको रोकें।

यही मनुष्य पहले अपने बाहुबल के लिए विख्यात था।

इजमन का धैर्य छूट गया। वह पागल की तरह चिल्ला कर कहने लगा—दुहाई तुम्हारी। तुम कुछ भी तो करो। विद्रोह करो, हत्या करो, जो तुम्हारी ख़ुशी हो करो। मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। कुछ करो तो। परन्तु किसी ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया। सब वैसे ही निश्चेष्ट पड़े रहे।

इजमन की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने कहा—निष्क्रिय प्रजा को मैं किस प्रकार जागृत करूँ। एक बार उठ कर देखो, इतिहास में निष्क्रिय प्रतिरोध से किसी भी देश या जाति का कल्याण नहीं हुआ है। मैं अकेला क्या करूँ। कौन मेरी सहायता करेगा।

कहीं से कुछ शब्द नहीं आया। सर्वत्र शान्ति और निस्तब्धता बनी रही। कान्तिहीन दृष्टि से सब ताकते रहे।

इसी प्रकार धीरे धीरे समस्त जाति काल के मुख में पड़ कर लुप्त, हो गई। अन्त में इजमन ने भी प्राण छोड़ दिया। मरते समय

उसने कहा—शक्ति-हीन कर्मोन्माद अच्छा नहीं है, परन्तु निष्क्रियता के अनुष्ठान मे भी संयम चाहिए। तभी जाति की अन्तःशक्ति बढ़ती है।

९—उन्मादिनी

मेरे मित्र डाक्टर बनेट ने कितने ही दिनों से रायांते आने के लिये निमन्त्रण दे रक्खा था। परन्तु काम के कारण मुझे वहाँ जाने का कभी मौका नही मिला। अन्त में एक बार वहाँ जाना मैंने निश्चय किया। जिस दिन मै रायांते पहुँचा उस दिन खूब कुहरा था। प्लेट-फ़ार्म पर मेरे मित्र डाक्टर बनेट मेरी प्रतीक्षा मे खड़े थे। उनके साथ गाड़ी पर बैठ कर मै उनके घर गया। काफी पी लेने के बाद मेरे मित्र ने कहा—चलो, थोड़ा घूम आवें।

छोटे छोटे पहाड़ों के किनारे घूम कर रास्ता गया था। बीच बीच में दो चार घर थे। उनके आस-पास फलो और फूलो के उद्यान थे। दृश्य सचमुच रमणीय था। एक मकान के पास खड़े होकर डाक्टर ने कहा—यहाँ थोड़ा रुक जाओ। मै एक रोगी को देख आऊँ। इतना कह कर वह घर के भीतर चला गया।

उस घर की बनावट में कुछ बिलक्षणता थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह गम्भीरता की मूर्ति है। वह जीर्ण हो गया था। उसमें एक भी खिड़की नहीं थी। दीवारें बीच बीच में टूट-फूट गईं थीं। घर को देखने से यही भाव उदित होता था कि मानों किसी ने किसी को इसमें बन्द कर रक्खा है। उसे बाहर के किसी भी मनुष्य को देखने की आज्ञा नहीं है। जब डाक्टर लौट कर आया तब मैंने उससे उस घर के विषय में पूछा।

डाक्टर ने कहा—तुम्हारा अनुमान बहुत कुछ ठीक है। अब इस घर की बन्दिनी बाहर के किसी भी आदमी को नहीं देख सकती। वह बिलकुल पगली हो गई है। उसमें अब ज़रा भी ज्ञान नहीं है। उसकी कहानी सुनोगे? मेरे राज़ी होने पर डाक्टर कहने लगा—

बीस वर्ष से पहले की बात है। मैंने डाक्टरी शुरू ही की थी। उसी समय इस घर के स्वामी ने आकर मुझे अपने लड़की की चिकित्सा करने को कहा।

लड़की का नाम था बार्था। उसकी उम्र सात-आठ साल की थी। वह बड़ी सुन्दर थी। परन्तु वह बिलकुल नहीं बोल सकती थी। यही उसका रोग था। जब वह बहुत छोटी थी तभी वह चलना फिरना सीख गई थी। परन्तु उसके मुख से कभी कोई शब्द स्पष्ट नहीं निकला। लोगों ने समझा कि वह कानों से सुन नहीं सकती। परन्तु परीक्षा करने पर मालूम हुआ कि वह सुन तो अच्छी तरह लेती है। उसकी वाक्शक्ति-हीनता-का कारण था मस्तिष्क का विकार।

क्रमशः बार्था बड़ी होने लगी। मैंने चिकित्सा-शास्त्र के सभी बड़े बड़े ग्रन्थ छान डाले और उसको कितने ही दवायें दीं, परन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। पहले वह अपनी धाई को पहचान लेती थी, परन्तु अवस्था बढ़ने पर उसका वह ज्ञान भी लुप्त हो गया। माँ को पहचानना तो दूर रहा, उसने कभी अपने मुँह से मां भी नहीं कहा। कभी कभी वह कुछ बोलने की चेष्टा करती थी। परन्तु उसके मुख से केवल अर्थ-हीन शब्द निकलता था।

परन्तु एक विषय में मैंने उसकी कुछ विशेषता देखी। वह विशेषता यह थी कि प्रकृति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से उसके भावों का सामञ्जस्य था। जब आकाश स्वच्छ रहता तब वह पत्ती की तरह आनन्द से बोलती थी। परन्तु यदि आकाश मेघाच्छन्न हुआ तो वह उदास हो जाती थी। जब सूर्य की किरणें घर में प्रवेश करतीं तब वह ताली पीट कर उछलती थी।

अन्त में मैंने उसकी बुद्धि को बढ़ाने के लिए एक दूसरा ही उपाय सोचा। जब वह खाने के लिए बैठती तब उसको दूसरा कुछ भी ज्ञान नहीं रहता था। वह दिन-रात खाना चाहती थी। कब खाने का समय आयगा, इसके लिए वह सदैव व्यग्र रहती थी और इसी से अन्त में

वह खाने का घंटा पहचान गई । तब मैंने उसे घड़ी का कांटा दिखला कर यह बतला दिया कि किस जगह कांटा आने पर खाने का समय आता है। इस तरह वह घड़ी देखना सीख गई । तब उसका यह काम हो गया कि वह घड़ी की ओर बराबर ताकती रहती थी। कब किस घड़ी का कांटा बजने से खाने का समय आ गया, इसे वह अच्छी तरह समझ गई थी। एक बार घड़ी के बजने का स्प्रिङ्ग बिगड़ गया। इसी से वह नहीं बजा। तब वह सब कुछ छोड़ कर उसी घड़ी को लेकर देखने लगी। जब वह किसी प्रकार नहीं बजा तब उसने उस घड़ीको तोड़ डाला। यह देखकर मैं समझ गया कि उसमें धारणा-शक्ति है, परन्तु वह बहुत क्षीण है। कुछ समय के बाद बार्था में एक परिवर्तन हुआ। वह अब लड़की नहीं रही, युवती हो गई। यौवन के उन्मेष से उसके स्वभाव में परिवर्त्तन न होने पर भी उसके शरीर में बड़ा परिवर्तन हो गया। यों तो बाल्यावस्था में ही वह सुन्दर थी। परन्तु अब उसके शरीर से लावण्य फूटने लगा। उसका सुगठित अङ्ग-सौष्ठव, दृढ़ और चपल गति, उज्ज्वल और भीरु नेत्रों की शून्य और चञ्चल दृष्टि देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाता ने सुन्दरता को मूर्तिमती कर पृथ्वी पर घूमने के लिए छोड़ दिया है।

एक दिन बार्था के पिता ने आकर मुझसे कहा कि मैं बार्था का विवाह कर देना चाहता हूँ। पहले तो उसका यह प्रस्ताव सुनकर मैं अवाक् हो गया। परन्तु बार्था के पिता ने कहा—देखिए, मैंने सब कुछ करके देख लिया। किसी से कुछ नहीं हुआ। सम्भव है कि विवाह हो जाने पर स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होने पर उसका ज्ञान बढ़े। मैंने वर भी ठीक कर लिया है। उसका नाम है गास्तों लूसेल। वह राजी हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि रुपये और रूप के लोभ से वह विवाह के लिए तैयार हुआ है। परन्तु किया क्या जाय। आपकी क्या राय है ?

मैं क्या उत्तर देता, चुप रहा। परन्तु जब बार्था का पिता चला गया तब मैंने देखा कि उसका कथन उचित ही है। परन्तु इतना मैं

समझ गया कि गास्तों बिलकुल पशु हैं।

अन्त में एक दिन बार्था का विवाह हो गया। विवाह में धूम-धाम नहीं हुई। बार्था को विवाह के समय कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। उस समय वह घड़ी देखने में और भोजन के समय खाने में व्यस्त रही। पोशाक देख कर भी कुछ कौतूहल नहीं हुआ।

विवाह के बाद मैं प्रायः उनके घर जाया करता था। गास्तों ने अपनी स्त्री के आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न की। वह उसे सदैव प्रसन्न रखने की चेष्टा करता। पहले पहल तो बार्था ने उस पर कुछ ध्यान नहीं किया। किन्तु दो चार महीनों के बाद उसके स्वभाव में कुछ परिवर्तन होने लगा। वह अपने पति को पहचानने लगी। अच्छे भोजन की ओर उसका जिस प्रकार का आग्रह देखा जाता था कुछ कुछ वैसा ही भाव गास्तों के प्रति होने लगा। जान पड़ता था कि यहीं प्रेम का सूत्रपात हुआ। इसके बाद वह अपने पति के हाव-भाव और रङ्ग-ढङ्ग को बड़ी उत्सुकता से देखने लगी। सीढ़ी पर उसके पैर की आहट पाते ही वह व्यग्र होकर दरवाज़े की ओर ताकने लगती थी। प्रेम की ज्योति से उसकी शून्य दृष्टि उज्ज्वल हो गई और सुख और स्नेह के कारण उसके शरीर की एक नई शोभा हो गई।

बार्था अपने पति को अपना सर्वस्व देकर चाहने लगी। पति-प्रेम में उसकी दुर्बल आत्मा का अस्तित्व विलुप्त हो गया। मुझे एक दिन की बात याद है। उस दिन आकाश में मेघ खूब घिर आये थे। सन्ध्या के समय अन्धकार बढ़ने लगा। उस समय बार्था भयभीत हो गई। गास्तों ने उसे सान्त्वना देने के लिए अपना हाथ फैलाया। तब बार्था ने उसकी छाती में अपना मुख इस प्रकार छिपा लिया जिस तरह पक्षी का बच्चा अपनी मा के परों में अपना मुख छिपा लेता है। उस समय उसके मुख पर एक असीम आनन्द का भाव उदित होता था। उसका नीरव और निर्बोध हृदय आनन्द के आवेश में तन्मय हो गया था। उसके इस मूक प्रेम की सरलता देखकर प्रेमिकाओं का हाव-

भाव बिलकुल तुच्छ प्रतीत होता था, क्योंकि उस हाव-भाव में प्रेम की वह गम्भीरता नहीं रहती जो उसके प्रेम में प्रकट होती थी।

किन्तु थोड़े ही दिनों में गास्तों का प्रेम घटने लगा। इस मूक नारी की लीला-हीन सरलता से उसे विरक्ति होने लगी। वह आमोद-प्रमोद के लिए शहर जाने लगा। अन्त में यह हुआ कि उस निस्सहाय अबला के पास वह एक घण्टे से अधिक नहीं ठहरता था। परन्तु इससे बार्था का प्रेम बढ़ने लगा। वह रात भर घड़ी लेकर अपने स्वामी की प्रतिक्षा में बैठी रहती थी। कोई भी शब्द होने पर वह चौंक कर बड़ी उत्सुकता से दरवाज़े की ओर दौड़ कर जाती। अभागिनी यह नहीं जानती थी कि उसका भाग्य फूट गया है।

क्रमशः वह रोग-ग्रस्त होने लगी। न वह खाती और न सोती थी। उसके मन में कोई दूसरी अनुभूति नहीं थी। सभी आशाओं, सभी चिन्ताओं और सभी वासनाओं के अतीत वह एक-मात्र अपने स्वामी को ही अचल जानती थी। स्वामी का यह अदर्शन उसे असह्य हो गया कभी कभी रात के अन्त होने पर गास्तों घर लौटता था। उस समय बार्था का अनिद्र और अनाहार से शुष्क मुख आनन्द से खिल उठता था। उसने अपराधी पति से कभी कुछ नहीं कहा, केवल मूक, कातर तिरस्कार-युक्त दृष्टि से वह घड़ी की ओर देखती।

इसके बाद एक दिन मैंने सुना कि गास्तों ने उसे बिलकुल ही छोड़ दिया है। अपनी स्त्री को छोड़ कर वह न जाने कहाँ चला गया। विरह की तीव्रता से वह पगली हो गई। उसका यह पागलपन अभी तक दूर नहीं हुआ है। परन्तु अभी तक वह अपने स्वामी को नहीं भूली है। वह सभी समय एक घड़ी को ताकती बैठी रहती है। एक बार परीक्षा के लिए मैंने उस घड़ी को हटाने की चेष्टा की। उस समय वह इतनी विकल हो गई कि मैंने घड़ी को जहाँ का तहाँ रख दिया। उसके मुख की कान्ति नष्ट हो गई। वह बिलकुल बूढ़ी सी जान पड़ती है।

डाक्टर इतना कह कर रुक गया। मैंने पूछा—उसके मा-बाप कहाँ

हैं। डाक्टर ने कहा—वे पहले ही मर गये।

हम लोग एक पहाड़ की चोटी पर जाकर बैठ गये। मैंने नीचे देखा, हरी भरी पृथ्वी दूर तक फैली हुई थी। दूसरी ओर दृष्टि फेरी तो पर्वतों की श्रेणी दिखलाई दी। एक ओर निस्तब्ध पृथ्वी थी और दूसरी ओर मूक-पर्वत-श्रेणी। मुझे ऐसा जान पड़ा कि इस निस्तब्ध भूमि में उस मूक उन्मादिनी की व्यथित आत्मा का नीरव आर्तनाद व्याप्त हो रहा है।

१०—टेरसा

मैं तब मास्को के एक कालेज में पढ़ता था। मेरी स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। इसी से मैं एक छोटे होटल में रहता था। वहाँ सभी तरह के स्त्री-पुरुष रहते थे।

कोठे पर एक कमरे में मैं रहता था। मेरे कमरे के सामने ही एक दूसरा कमरा था। उसमें एक स्त्री रहती थी। वह पोलेंड की थी। स्त्रियों को कुरूपा कहना औचित्य की सीमा के बाहर है। तो भी वह ऐसी नहीं थी कि किसी पुरुष का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो। उसका लम्बा शरीर था। शरीर में कोमलता नहीं थी। परन्तु वह खूब मजबूत थी। आँखें बड़ी तीव्र थीं। आवाज़ भी तेज थी। उसका रङ्ग-ढङ्ग पुरुषों की तरह था। सच तो यह है कि उसे देखते ही मुझे कुछ डर सा लगता था। जब तक वह अपने कमरे में रहती थी तब तक मैं अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द रखता था। गनीमत इतनी थी कि वह अपने कमरे में कम रहती थी। कभी कभी सीढ़ी पर उससे भेंट हो जाया करती। और तब प्रायः वह हँसकर मुझसे पूछ बैठती थी—कहो छोटे बाबू, क्या हाल है? अच्छे तो हो? उसका यह हँसना मुझे बड़ा बुरा लगता था। कह तो मैं कुछ सकता नहीं था, क्योंकि वह स्त्री थी। अपने मन के भाव को किसी तरह दबाकर मैं दूसरी ओर मुँह कर चला जाता था। मेरी घृणा बढ़ती ही जाती थी। कभी कभी यह इच्छा होती थी

कि मैं कमरा बलद् लूँ, परन्तु मेरा यह कमरा ऐसे अच्छे मौके पर था कि उसे छोड़ने को जी नही होता था। इसीसे मुझे उस स्त्री की सभी बातें चुपचाप सह लेनी पड़ती थीं।

एक दिन मै आराम से कोच पर लेटा हुआ था। एकाएक मेरे कमरे का दरवाज़ा खुल गया। मैंने चौंक कर देखा कि दरवाज़े पर मेरी वही पड़ोसिन स्त्री खड़ी है। उसने उसी भद्दे स्वर से कहा—"कहो छोटे बाबू, क्या हाल है?" मैने उत्तर दिया—आपको कुछ काम है क्या?

आज उसका चेहरा कुछ बदला हुआ था। वह उतना कठोर नहीं था। ऐसा जान पड़ता था कि उसमें कुछ कोमलता आ गई है। उसने कहा, तुमसे मुझे एक प्रार्थना करनी है। मानो तो कहूँ।

सुनकर मै सोचने लगा कि इसका क्या मतलब है, कुछ बुरे उद्देश से तो यह नहीं आई है। इसी सोच विचार में मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया, चुपचाप कोच पर लेटा ही रहा। वह स्त्री बड़ी नम्रता से कहने लगी--मुझे एक चिट्ठी लिखानी है, लिख दोगे?

अब तो कुछ उपाय न था। मैंने अपने मन में कहा—हराम-जादी घड़ी भर आराम भी नही करने देती। परन्तु उठकर मैं टेबिल के पास बैठ गया और कागज़ लेकर बोला—कुर्सी पर बैठ जाइए। आप कहते जाइए, मैं लिखता जाऊँगा।

वह एक कुर्सी पर बैठकर मेरी ओर कुछ ऐसे ढङ्ग से देखने लगी कि मानो वह कोई अपराध कर रही हो।

मैंने पूछा—किसको लिखना होगा?

वह बोली—बोल्सलाव कैसपुटक स्विट्सियाना वार्सरोड?

मैंने कहा—अच्छा क्या लिखना होगा?

वह कहने लगी—लिखो—प्रियतम, प्राणेश्वर, हृदयेश्वर, तुम्हारी चिट्ठी नहीं आई। क्या तुम अपनी छोटी टेरसा को भूल गये। क्या वह तुम्हारी आँखों की पुतली नही है—

आँखों की पुतली से इस लम्बी-चौड़ी स्त्री की तुलना कर मैं अपनी

हँसी न रोक सका। मैंने हँसते हुए उससे पूछा—यह बोलिस्ट कौन है ?

"बोलिस्ट नहीं, बोल्स वह मेरा प्रेमी है।"

"तुम्हारा प्रेमी !"

"हाँ, क्यों इसमें अचरज क्या है ? मेरे समान कन्याओं के क्या प्रेमी नहीं हो सकते।"

कन्या ! चालीस वर्ष पार कर लेने पर भी यह अपने को कन्या ही समझती है। परन्तु मैंने अपने मन के भाव को दबा कर कहा—अचरज क्या है। अच्छा कब से तुम्हारा उससे परिचय हुआ है ?

"छः साल से।"

"छः साल ! ख़ैर, अब आगे कहिए।"

वह चिट्ठी लिखाने लगी और मैं लिखने लगा। चिट्ठी इस तरह लिखी गई कि यदि उसकी लिखानेवाली टेरसा न होती तो मुझे बोल्स बनने में कोई आपत्ति न थी।

चिट्ठी ख़तम हो जाने पर उसने मुझे धन्यवाद देकर कहा—आपने बड़ी दया की। अगर मेरे लायक कोई काम हो तो बतलाइए। अगर कमीज़ फट गये हों तो लाइए मैं सी दूँ।

उसकी यह घनिष्ठता देखकर मैंने कुछ विरक्त होकर कहा—मुझे कुछ ज़रूरत नहीं है, आप जायँ।

वह चली गई। दो सप्ताह बीत गये। एक दिन शाम को वर्षा के कारण मैं कहीं बाहर नहीं जा सका। खिड़की के पास बैठ कर मैं बाहर का दृश्य देखने लगा और तरह तरह की बातें सोचने लगा। कोई काम करने की तबीयत नहीं होती थी। यह नहीं जान पड़ता था कि समय किस तरह काटूँ। इसी समय दरवाज़ा खुल गया। जी में जी आया। समझा कि कोई दोस्त आया। परन्तु आँख उठाकर देखा तो टेरसा खड़ी है।

टेरसा कहने लगी—तुम कोई काम में तो नहीं लगे हो ?

"नहीं । क्यों ?"

"और एक चिट्ठी लिख दोगे ।"

"क्यों नहीं । उसी बोल्स को तो लिखना होगा ।"

"नहीं ! इस बार बोल्स की ओर से लिखना होगा ?"

"क्या कह रही हो ?"

"बात यह कि यहाँ हमारे एक मित्र हैं । वे अपनी एक प्रेमिका को चिट्ठी लिखाना चाहते हैं । उसका भी नाम टेरसा है । बस, इसी तरह से चिट्ठी लिख दो ।"

मै उसकी यह बात समझ न सका । बोला—क्या बक रही हो, सब झूठी बातें हैं । तुम्हें छोड़ कर और कौन यहाँ दूसरी टेरसा है ।

यह सुनते ही उसका मुँह सूख गया । उसके दोनों हाथ काँपने लगे । ऐसा जान पड़ा कि वह कुछ कहना चाहती है, पर कुछ नहीं कह सकती । मैं सुनने की प्रतीक्षा में बैठा रहा । परन्तु इतना मैं समझ गया कि मुझसे भूल हो गई । उसकी बातों का कोई गूढ़ मतलब है । परन्तु वह बिना कुछ कहे दरवाज़ा खोलकर बाहर चली गई ।

मुझे कुछ दुःख सा हुआ । यह तो मैंने समझ लिया कि टेरसा को बड़ा दुःख हुआ है । यही सोचकर मैं उसके कमरे की ओर चला । दरवाज़ा खोलने पर देखा कि वह टेबिल के ऊपर दोनों हाथों से मस्तक को पकड़े हुए बैठी है ।

मैंने पास जाकर कहा—सुनती हो ?

उसने कुछ उत्तर नहीं दिया ।

मैंने फिर कहा—सुनिए तो ।

वह कुर्सी छोड़कर खड़ी हो गई । उसकी दोनों आँखें मानों जल रही थीं । उसने अपने दोनों हाथ मेरे कंधे के ऊपर रख कर कहा—सुनो, मैं इस बार सच बात बतलाती हूँ । बोल्स नाम का कोई आदमी नहीं है और न यहाँ कोई टेरसा ही है । परन्तु इससे तुम्हारी हानि क्या है । काग़ज़ पर दो-चार लाइन लिख देने में कौन सी बुराई है ।

बोल्स नहीं है तो न सही, परन्तु मैं तो हूँ।

उसके इस व्यवहार से मेरा आश्चर्य और भी बढ़ गया। मैंने कहा—यदि यही बात है तो तुम लिखाती क्यों हो? बोल्स तो कोई नहीं है।

"नहीं।"

"टेरसा भी और कोई नहीं है।"

"नहीं।"

तब तो मैं उसकी ओर चुपचाप ताकने लगा, समझा कि यह बिलकुल पागलपन की बात है। टेरसा ने टेबिल से मेरी हाथ की लिखी हुई चिट्ठी निकाल कर मेरे हाथ में दी और कहा कि अपनी चिट्ठी ले जाओ, मैं किसी दूसरे से लिखवा लूँगी।

मैंने चिट्ठी को देखकर कहा—तुम्हारा मतलब क्या है टेरसा, मैं कुछ समझ नहीं सका। चिट्ठी लिख लेने पर भी तुमने इसे भेजी क्यों नहीं?

"किसको भेजती।"

"क्यों, बोल्स को।"

"कह तो दिया कि बोल्स कोई नहीं है।"

तब भी मैं कुछ समझ न सका। टेरसा कहने लगी—नहीं समझ सके? बोल्स कोई नहीं है, परन्तु मैं चाहती हूँ कि कोई ऐसा ही आदमी रहता जो मुझे वैसा ही चाहता। मैंने समझ लिया कि बोल्स है और इसी से मैं उसके पास चिट्ठी लिखवा रही हूँ। तुम्हारा इसमें क्या बिगड़ता है?

तुरन्त सब बातें मेरी समझ में आ गईं। इस कुत्सित नारी को कोई नहीं चाहता, इसी से उसने एक नायक की कल्पना कर ली है और उसी कल्पित नायक से पत्र-व्यवहार कर रही है—मानो बोल्स टेरसा को चिट्ठी लिख रहा है और टेरसा उसका उत्तर लिख देने के लिए मुझसे अनुरोध कर रही है।

टेरसा कहने लगी—अगर तुम चिट्ठी लिख देते तो मैं किसी दूसरे के पास जाकर उसे पढ़ाती और तब मुझे ऐसा जान पड़ता कि मानो स्वयं बोल्स ही अपनी मन की बातें मुझे लिख रहा है। तब फिर मैं उस चिट्ठी का उत्तर लिखाती। इससे कुछ तो जी हलका होता। घड़ी भर इसी कल्पित मोह मे रहती कि कोई मेरा भी ख्याल रखता है।

मै अपनी बुद्धि को धिक्कारने लगा। इतनी छोटी सी बात मैं नहीं समझ सका। प्रेम की आकांक्षा किसे नहीं होती, फिर चाहे वह सत्य हो या कल्पित। उस दिन से मैं बराबर हफ्ते में दो बार टेरसा के लिए चिट्ठी लिखने लगा। एक चिट्ठी में मैं बोल्स की बातें लिखता और फिर दूसरी चिट्ठी में बोल्स को टेरसा की ओर से लिख कर देता। उस दिन से टेरसा दासी की तरह मेरा काम करने लगी। तीन महीने के बाद किसी अपराध में उसे जेल हो गया और फिर उसकी कोई खबर मुझे नही मिली।

हाय, हम लोग कितने निर्बोध हैं, कितने स्वार्थ पर हैं। हम लोग मुख से तो यह कहते हैं कि सभी मनुष्यों के हृदय हैं। परन्तु सभी समय हम इसका खयाल नहीं करते। दूसरों के साथ व्यवहार करते समय हम यह बात भूल जाते हैं। हम लोग अपने ही सुख-दुःख में लीन रहते हैं।

११—वर-लाभ

यह अपरलोक की कथा है। उससे इस लोक का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह यहाँ से अत्यन्त दूर है; अनन्त आकाश के किसी नक्षत्र-मण्डल में वह स्थित है। वहाँ किसी रमणी के साथ एक पुरुष रहता था। एक डाली में दो फूलों के समान वे दोनों रहा करते थे। उनमें कभी विच्छेद-वियोग नहीं हुआ था। वहाँ एक विस्तृत एवं सघन बन था। सब वृक्ष परस्पर ऐसे मिल गये थे कि उनके बीच थोड़ा भी अन्तर नहीं था; पर वृक्षों में ही यह निबिड-भाव न था। उस बन में

जो कुछ थे सब ऐसे ही मिल गये थे। फूल-फूल में, फल-फल में और पत्तों-पत्तों में भी विच्छेद नहीं था।। जल, पवन और प्रकाश भी बन के उस सुदृढ़ मिलन को भंग कर प्रवेश करने का पथ नहीं पाते थे।

उस बन के बीच एक मन्दिर था। वह कब से था, यह कोई नहीं जानता। मन्दिर में कुछ नहीं था। रात को देवता उसमें आया करते थे। सुनते हैं कि उस समय घोर रात्रि के अन्धकार में किसी को साथ में न लेकर यदि कोई मन्दिर में जाकर देवता की आराधना करे और उसे अपने हृदय का रक्त अर्पण करे तो उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती!

पुरुष और रमणी अनेक बार उस मन्दिर में गये थे; अनेक बार दोनों ने देवता की प्रार्थना की थी, पर अकेला कोई नहीं गया था। किसी पूर्णिमा की रात्रि में, पुरुष को साथ में न लेकर, रमणी अकेली ही मन्दिर की ओर गई। बन के बाहर चन्द्रमा के प्रकाश में सारा संसार हँस सा रहा था। जल, स्थल, आकाश, सब उज्ज्वल थे। सब में केवल शुभ्रता थी। आकाश में नीलिमा नहीं थी, सब आलोकमय था। केवल बन के भीतर घोर अन्धकार था। उस स्थान में ज्योत्स्ना नहीं थी, प्रकाश नहीं था।

रमणी उस घोर अन्धकार में मन्दिर के पास आई और भक्तिभाव से देवता को प्रणाम कर प्रार्थना करने लगी; समय व्यतीत होने लगा। रात बढ़ने लगी, पर कुछ न हुआ। अन्त में रमणी ने अपने मर्मस्थल में आघात किया। धीरे धीरे रक्त बिन्दु-बिन्दु होकर हृदय से बाहर निकल मन्दिर की सीढ़ियों पर गिरने लगा। इस बार शब्द हुआ, 'क्या 'चाहती हो?" रमणी ने कहा, "एक पुरुष है। वह मुझे संसार में सबसे अधिक प्रिय है। आप उसे वर दें।" शब्द हुआ, "कैसा वर?" रमणी ने उत्तर दिया, "यह तो मैं नहीं जानती, प्रभो! पर जिससे उसका सब प्रकार से मंगल हो वह वर दीजिए।" शब्द हुआ, "तथास्तु।"

चिरकाल की आकांक्षा सफल होने के कारण उसके आनन्द की सीमा न रही। इतने आनन्द का उसने अपने जीवन में कभी उपभोग

नहीं किया था। उस आनन्द का भाग पुरुष को देने के लिए वह अधीर हो उठी। धीरे न चल वह उत्कण्ठा से दौड़ने भी लगी। स्थिर वन उसके द्रुतपाद से काँप उठा। स्तब्धता भंग कर शुष्क पत्रों से मर्मर ध्वनि निकली। अन्धकार में उस शब्द को सुनकर रमणी, न जाने क्यों, चकित और भीत हो गई।

शीघ्र ही वन के बाहर आई। बाहर अन्धकार नहीं था। बाहर चद्रज्योत्सना क्रीड़ा कर रही थी। बसन्तकाल की पवन बह रही थी। फूलों की सुगन्धि से सब दिशाएँ पूर्ण थीं। दूर में समुद्र तीर के बालुका के कण ज्योत्स्ना के आलोक में, आकाश के नक्षत्रों के समान, चमक रहे थे। समुद्र तरङ्ग भी अपने अपने अविराम नृत्य में रत थी। आकाश में, पवन में, स्थल पर, सर्वत्र आनन्द की ध्वनि उठने लगी।

रमणी शीघ्रता से चली जा रही थी। उसकी दृष्टि एक बार समुद्र की ओर गई और वह ठहर गई। उसने देखा कि एक नाव समुद्र-तरंगों को भंग करती हुई चली जा रही है। रमणी सोचने लगी, "इतनी रात को देश छोड़कर कौन जा रहा है ?" वह उत्सुकता से देखने लगी। प्रकाश मंद होने के कारण यद्यपि वह पहचाना नहीं जा सकता था तथापि रमणी ने शीघ्र ही जान लिया कि वह कौन है। वह मूर्ति उसके हृदय-पटल में अङ्कित थी, वह उसका चिरपरिचित पुरुष था।

नाव धीरे-धीरे दूर होती जा रही थी। इसी समय रमणी ने क्या देखा ? देखा कि उस नाव में एक परम सुन्दरी बालिका पुरुष के साथ बैठी हुई है। उसका सुन्दर मुख चन्द्रमा के प्रकाश में अत्यन्त सुन्दर जान पड़ता था।

रमणी का हृदय चंचल हो उठा। यह पागल के समान दौड़ी। वह जरूर रोक लेगी, पुरुष को जाने न देगी ! किन्तु सामने समुद्र था, उसकी तरंगों को भेदना असाध्य था। हताश होकर बारम्बार कहने लगी—"लौट आओ, लौट आओ।"

अन्त में, दूसरा उपाय न देखकर रमणी समुद्र में कूद पड़ी। तरंग-प्राचीर को भेदकर वह आगे बढ़ना चाहती थी कि किसी ने उसके कान में कहा, "यह क्या करती हो? तुम यह क्या करती हो?" रमणी ने गद्गद कंठ से कहा, "मैं इसके लिये अपने हृदय का रक्त देकर देवता से वर भिक्षा माँग लाई हूँ।" अलक्षित स्वर ने कहा, "अच्छा तो है, वर वह पा भी तो गया।"

रमणी ने पूछा "कौन सा वर?"

अलक्षित स्वर ने कहा "उसका सर्वांङ्गीण मंगल, तुमसे अनन्त विच्छेद।"

रमणी स्तम्भित हो गई।

फिर शब्द हुआ, "क्यों, तुम सुखी तो हो?"

रमणी ने धीरे धीरे कहा, "हाँ सुखी।"

चारों ओर फिर निस्तब्धता फैल गई, सिर्फ समुद्र का चंचल जल रमणी के दोनों चरणों को घेरकर 'छल् छल्' करने लगा।

१२—बच्चा

बच्चे की माँ ने उसके लिये एक सुन्दर पोशाक बनवा दी थी। थी। हलके नीले रंग के मखमल पर जरी का काम किया गया था। मुझे विश्वास है कि ऐसी सुन्दर पोशाक तुमने कभी न देखी होगी। इसलिए तुम अनुमान भी नहीं कर सकते कि वह पोशाक कितनी सुंदर रही होगी। उसमें सोने के बटन लगे थे। जिस दिन वह पोशाक पहन कर बच्चा आइने के पास खड़ा हुआ, उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी बड़ी बहन जिस राजकुमार की कहानी कहा करती है वही राजकुमार सामने आकर खड़ा हो गया है।

बच्चे की यह इच्छा होती थी कि उसके घर के सामने की सड़क पर जो लोग दिन-रात आते-जाते रहते हैं वे उसकी पोशाक देखें। तुम समझ सकते हो कि बच्चा उन्हें सिर्फ पोशाक नहीं दिखाना

चाहता था। किन्तु उस पोशाक के पहननेवाले को भी दिखलाना चाहता था। बच्चा मन ही मन यह सोचा करता था कि वह उस पोशाक को पहन कर किसी अज्ञात अपरिचित देश में चला जा रहा है और चारों ओर लोग खड़े खड़े उसकी पोशाक को देख रहे हैं। उस समय उसे बड़ी ख़ुशी होती थी।

दोपहर में जब सूर्य ख़ूब चमकता था तब बच्चा यह चाहता था कि वह पोशाक को पहनकर रास्ते पर दौड़े, जिससे उसके बटन और जरी ख़ूब चमकें। परन्तु उसकी मा उसे हमेशा वह पोशाक पहनने नहीं देती थी। वह कहती—यह तो तुम्हारे विवाह की पोशाक है, अभी से उसे पहनकर ख़राब कर डालोगे तो विवाह के दिन क्या पहनोगे। बच्चा यह सोचकर ख़ूब ख़ुश होता था कि जब वह पोशाक पहन कर वर बनेगा तब वह सब वरों से अधिक सुन्दर जान पड़ेगा।

बच्चे की मा ने उसके सोने के बटन को पतले नीले काग़ज से ढँक दिया था जिससे उसका रंग न उड़ जाय और बड़ी सावधानी से उसको बच्चे की छोटी आलमारी में बन्द कर रख दिया था। बच्चे को पोशाक पहनने की बड़ी इच्छा होती थी; परन्तु वह अपनी मा की बात को कभी नहीं टालता था। उसकी मा ने कह दिया था कि छोटी बहिन के विवाह में वह यह पोशाक पहनेगा। बच्चा सोचने लगा कि दो महीने में तो बहन का विवाह होगा ही। उस दिन मुझे यह पोशाक पहनने को मिलेगा ही। इसी से वह उस पोशाक को कभी नहीं निकालता था।

एक दिन सोते सोते उसने स्वप्न में देखा कि उसकी पोशाक़ के बटनों की चमक जाती रही। उनका रंग बिलकुल उड़ गया है। जब उसकी आँखे खुलीं तब वह सोचने लगा, यदि सचमुच उन बटनों का रंग उड़ जाय ता। छोटी बहन के विवाह के दिन उसने पोशाक पहनी थी, परन्तु उसे ऐसा जान पड़ा कि बटन के रंग में पहले की सी चमक नहीं है। विवाह के बाद उसने ख़ुद बड़ी सावधानी से अपनी छोटी आलमारी के भीतर उसको बन्द कर दिया था। बीच में वह पोशाक

को निकाल कर देखा करता था कि वह बिगड़ तो नहीं गई।

एक दिन रात में अचानक बच्चे की नींद खुल गई। वह उठ बैठा। देखा, खिड़की से चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्ति उसके बिछौने पर पड़ रही है। बच्चा उसी प्रकाश की ओर कुछ देर तक ताकता रहा। ऐसा सुन्दर प्रकाश उसने पहले कभी नहीं देखा था। चारो ओर सब लोग सो रहे थे। परन्तु बच्चे को ज़रा भी डर नहीं हुआ। उसको ऐसा मालूम हुआ कि वह इतने दिनों तक जिस रात की प्रतीक्षा कर रहा था वह रात आ गई। उसके हृदय में एक तरह का आन्दोलन होने लगा। उसने स्पष्ट सुना कि कोई उसके कान में कह रहा है कि पोशाक पहनो। बच्चे के मन में यह दृढ़ विश्वास हो गया कि पोशाक उसी की है। उस पर किसी का अधिकार नहीं है। यदि वह पोशाक पहन कर खराब कर डालेगा तो भी उसे धमकाने वाला कोई नहीं है। उसने तुरन्त जाकर आलमारी खोली और पोशाक को बाहर निकाला। पहले उसकी मा उसको पोशाक पहनाती थी, परन्तु आज उसने ख़ुद अपने ही हाथों से, बिना किसी की सहायता के, पोशाक पहन ली।

दरवाजा खोल कर बच्चा बाहर आया और अपने घर की फुलवाड़ी में खड़ा हुआ। उसके शरीर पर चन्द्रमा की उज्ज्वल चाँदनी पड़ने लगी। उसकी पोशाक ख़ूब चमकने लगी। उस पर बच्चे की आंखें नहीं ठहरती थीं। इसके बाद वह बड़े बड़े झाड़ों के नीचे चुपचाप खड़ा हो गया। उनके पत्तों से छन कर चन्द्रमा की किरणें आ रही थीं। बच्चे को ऐसा जान पड़ा ये सब पेड़ भी सुन्दर पोशाक पहन कर खड़े हुए हैं। इसके बाद उसकी दृष्टि तालाब की ओर गई। वहां उसने देखा कि छाया सी हो रही है। पहले वह छाया देखकर डर जाता था, परन्तु आज उसे ज़रा भी डर न मालूम हुआ। चारों ओर निस्तब्धता थी, तो भी झींगुर और इसी तरह के कितने ही अज्ञात जंतुओं की आवाज़ सुनाई दे रही थी।

बच्चा चलने लगा। वह लाल सड़क को छोड़ कर छोटे छोटे पौधों और घास के भीतर जाने लगा। काँटे लगने से कभी कभी उसकी पोशाक का कोई कोई भाग फट जाता था। परन्तु आज इसके लिए उसे कुछ भी दुख नहीं हुआ। उसे ऐसा जान पड़ा कि यह पथ ही उसे न जाने कहाँ लिये जा रहा है। उसको ऐसा मालूम हुआ कि वह घर में जिस राजपुत्र की कहानी सुना करता था उसी की तरह वह भी एक राजपुत्र है। वह भी हाथी पर बैठ कर चला जा रहा है। आज उसका अभिषेक-दिवस है।

चलते चलते वह एक तालाब के किनारे पहुँचा। तालाब में पानी अधिक नहीं था। उसके भीतर घास लगी हुई थी। चन्द्रमा के प्रकाश में पानी ऐसा चमक रहा था कि मानों किसी ने चाँदी गला कर ढाल दिया हो। बच्चा तुरन्त ही तालाब के भीतर घुस गया। पानी घुटने तक आया, फिर कमर तक, फिर कंधे तक पहुँच गया। परन्तु बच्चा ज़रा भी नही डरा। वह तालाब को पार कर गया। उसकी पोशाक पर कितने ही छोटे छोटे पत्ते चिपक गये।

बच्चा भीगी हुई पोशाक पहने आगे चलने लगा। उसे न डर था, न तकलीफ थी। उसे ऐसा जान पड़ता था कि आज उसकी यह आनन्द-यात्रा बन्द होने की नहीं। वह चलता ही रहेगा। कभी नहीं रुकेगा।

इतने में एक बड़ा काला भौंरा आकर उसके मुंह के चारों ओर उड़ने लगा। पहले बच्चा भौंरे से बहुत डरता था। परन्तु आज उसे वह भौंरा साथी की तरह मालूम हुआ। उसे देखकर वह बड़ा खुश हुआ। भौंरा उड़ते उड़ते ओठों पर बैठ गया।

उसी दिन लोगों ने देखा कि बच्चे का मृत शरीर रास्ते पर पड़ा हुआ है। उसकी पोशाक मिट्टी और धूल से सनी हुई है। परन्तु उसके ओंठ पर हँसी की एक ऐसी झलक बनी हुई है जैसी झलक हज़ार बार चूम कर भी बच्चे की मा ने कभी उसके ओंठ पर नहीं देखी थी।

साहित्य

१—कथा-रहस्य

कहा जाता है कि सत्य का ही रूप स्पष्ट करने के लिए साहित्य की सृष्टि होती है। काव्य, विज्ञान, इतिहास तथा दर्शन-शास्त्र सत्य की ही खोज मे लगे रहते है। यह सच है कि भिन्न-भिन्न शास्त्र भिन्न-भिन्न पथो का अवलम्बन करते हैं। यही कारण है कि इन शास्त्रों के कार्य-क्षेत्रों में भिन्नता रहती है। काव्य में कभी कभी इतिहास के विरुद्ध बातें पाई जाती है। परन्तु इसका कारण उद्देश्य की भिन्नता है। ऐतिहासिक तथ्य की ओर कवि भले ही ध्यान न दे—क्योंकि वह सर्वकालीन सत्य की खोज करता है—परन्तु वह अपने काव्य में मिथ्या को आश्रय नहीं देगा। जो लोग उपन्यास तथा आख्यायिकाओं को कल्पना-प्रसूत समझ कर मिथ्या मान लेते है वे भूल में हैं। उपन्यास में कवि अवश्य एक कल्पित समाज का चित्र खीचता है, परन्तु उस चित्र की सभी बातें ऐसी होती है कि ये मनुष्य-मात्र मे घट सकती हैं। अतएव वह मिथ्या नही। सहस्र-रजनी-चरित्र के समान तूलतबील किस्सों में अलौकिक और अतिरञ्जित बातों का जमघट रहता है। परन्तु उनके भी भीतर हम मनुष्यत्व का सच्चा स्वरूप देख सकते है। विज्ञान इतिहास नहीं। विज्ञान मे मनुष्य-समाज का वर्णन नहीं रहता, उनमे प्राकृतिक अनन्त सत्यों का दिग्दर्शन कराया जाता है। अतएव यदि कोई विज्ञान में ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव देख कर उन्हें मिथ्या कर बैठे तो उसकी बात उपेक्षणीय ही होगी। हमारे कहने का मतलब यह है कि यदि हम किसी कृति में सत्य का स्वरूप देखना चाहें तो हमें उस ग्रन्थ के ध्येय का अनुगमन करना चाहिए। हमें इसी दृष्टि से साहित्य की पर्यालोचना करनी चाहिए।

(१)

साहित्य के दो भेद किये जा सकते हैं, एक काव्य और दूसरा विज्ञान। काव्य में कल्पना का साम्राज्य है और विज्ञान में तर्क का। काव्य कभी तर्क का सामना नहीं कर सकता। उपन्यास और नाटक काव्य के अन्तर्गत हैं और इतिहास विज्ञान में सम्मिलित किया जा सकता है। काव्य का कार्यक्षेत्र अन्तर्जगत् है और विज्ञान का उपादान बहिर्जगत् है। हम लोग प्रायः बहिर्जगत् की ओर ध्यान देते हैं। अधिकांश लोगों के लिए प्रायः सत्य का रूप बाह्य जगत् में ही परिमित होता है। अन्त-र्जगत् की घटनाओं में वे सहसा सत्य का स्वरूप नहीं देख सकते। पत्थर के लगने से फल गिरना सत्य है। उसको सभी मान लेंगे। परन्तु किसी अलक्षित कारण विशेष से मनुष्य के अधः-पतन में सत्य का दर्शन कर लेना सभी के लिए साध्य नहीं है। वैज्ञा-निकों के आविष्कारों की सत्यता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु जब कवि अपनी कल्पना द्वारा अन्तर्जगत् का गूढ़ रहस्य समझा-ने लगता है तब कुछ लोग संदिग्ध-चित्त हो सकते हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो कल्पना को सत्य का विरोध समझते हैं।

यह तो सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि कल्पना निराधार नहीं हो सकती। उसका आश्रय सत्य ही होना चाहिए। जिसका अस्तित्व नहीं, उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है। हम कल्पना द्वारा देख सकते हैं कि मनुष्य आकाश में उड़ता है। कहानियों में हमने मनुष्यों के उड़ने की बात सुनी भी है। इसमें न तो मनुष्य मिथ्या है, न आकाश असत्य है और न उड़ना शब्द ही ग़लत है। तो भी यह बात सच है कि मनुष्य आकाश में नहीं उड़ सकता। संसार में यह बात होती नहीं। तब इस कथन में सत्य क्या है? यदि कोई जन्मान्ध से कहे कि सोने का रङ्ग हरा होता है तो वह इसे स्वीकार कर लेगा और यह मिथ्या बात स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपने जीवन में किसी प्रकार की अड़चन न उठानी पड़ेगी। सोने का रङ्ग हरा मानकर भी वह सोने के

मूल्य को कम नहीं करेगा । रङ्ग उसके लिए गौण है । सोना ही उसके लिए महत्त्वपूर्ण है । इसी प्रकार कहानियों में मनुष्यों के उड़ने की बात मिथ्या होने पर भी कहानी का महत्त्व नहीं घट जाता । चन्द्रकान्ता और चपला के अस्तित्वपर कोई विश्वास नहीं करेगा । तो भी हम उनके सुख-दुख की कथा में इतने व्यस्त रहते हैं कि हम उनके अस्तित्व की सत्यता की ओर ध्यान नहीं देते । कहानी में पात्र नहीं, पात्र का अन्तर्जीवन सत्य है । यदि चन्द्रकान्ता के स्थान कमल-कुमारी रख दी जाय तो भी उससे कथा का रस नष्ट नहीं होगा ।

सभी भाषाओं में ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे जाते हैं। ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास की विशेषता यह है कि उनके पात्र ऐतिहासिक होते हैं, कल्पित नहीं । अब प्रश्न यह है कि ऐसे ग्रन्थों के लेखक अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इतिहास का अनुसरण करते हैं या नहीं । क्या उन्हें अधिकार है कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को किसी अन्य रूप में प्रदर्शित कर सकें। कुछ समय पहले बङ्गाल के एक प्रसिद्ध चित्रकार ने लक्ष्मणसेन का पलायन नाम का एक चित्र बनाया था। कितने ही ऐतिहासिकों का कहना था कि ऐसी घटना हुई नहीं । तब उसका चित्र क्यों बनाया गया ? इससे मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। बङ्किम बाबू के कुछ उपन्यासों में इतिहास-विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में महावत खाँ प्रतापसिंह के भाई माने गये हैं। हिन्दी में एक बार इला नाम का एक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। वह एक बँगला-उपन्यास का अनुवाद था। इतिहास-विरुद्ध होने के कारण शायद उस पर कुछ विवाद भी हुआ था और कदाचित् उस पुस्तक का प्रचार भी रोक दिया गया । बात यह थी कि वह अँगरेज़ी के एक प्रसिद्ध लेखक शेरीडन के एक नाटक का अनुवाद-मात्र था । बंगाल के अनुवादक महोदय ने उसके पात्रों के नाम बदल कर ऐतहासिक व्यक्तियों के नाम कर दिये । फल यह हुआ कि उसमें उदयपुर के महाराणा उदयसिंह आ गये और हेमू के साथ उनका घोर युद्ध हुआ । अब यह

पूछा जा सकता है कि इन लेखकों ने इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी क्यों ?

उपन्यास-लेखक का पहला कर्तव्य यह है वह अपनी कथा को सजीव बनावे। कथा की सजीवता का मतलब यही है कि पाठक अपनी कल्पना द्वारा उन पात्रों को प्रत्यक्ष देख लें। कथा में मानव-चरित्र का विकास प्रदर्शित किया जाता है, और वही मुख्य भी है। परन्तु उसके प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपन्यास-कार ऐसे व्यक्तियों का नामोल्लेख कभी कभी कर देते हैं जिनसे पाठकों का चित्त कथा की ओर अधिक आकृष्ट हो जाता है। इतिहास भी कथा के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपयुक्त होता है। द्विजेन्द्रलाल राय ने महावत खाँ को प्रतापसिंह का भाई बना दिया है। इससे उनके मेवाड़ पतन के कथा-भाग का प्रभाव खूब बढ़ गया है, कथा सजीव हो गई है। हमें ऐसे स्थानों में स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक होते हुए भी ये पात्र कवि की सृष्टि ही है। अतएव हमें कथा-भाग पर ख़याल रखकर उनके चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। यदि कवि को उसमें असफलता हुई है तो हम उसकी आलोचना कर सकते हैं। अँगरेज़ी के एक समालोचक ने यह निर्णय किया है कि कवि, नाटककार अथवा चित्रकार को यह अधिकार है कि वे परिमित रूप में इतिहास के विरुद्ध भी अपनी कथा की सृष्टि कर सकते हैं। परन्तु एक दम ऐसी झूठ बात भी न लिख देनी चाहिए जिससे कथा का प्रभाव ही नष्ट हो जाय।

रवीन्द्र बाबू ने एक स्थान में लिखा है कि विधि-प्रणीत इतिहास और मनुष्य-चरित कहानी, इन्हीं दोनों के मेल से तो मनुष्य का संसार बना है। मनुष्य के लिए सिर्फ़ अशोक और अकबर ही सत्य नहीं हैं। जो राजपुत्र मणि-माणिक के अनुसन्धान में सात समुद्र को पार कर चला गया था वह भी सत्य है। हनूमान ने गन्धमादन पहाड़ को उखाड़ लिया था, वह भी उनके लिए सत्य है। कौन अधिक प्रामाणिक

है और कौन कम प्रामाणिक है, यह उनके लिए कसौटी नहीं है। कथा की दृष्टि से, मनुष्यत्व की दृष्टि से कौन सच्चा है, यही उनकी सत्यता की यथार्थ कसौटी है।

इतिहास में पात्र लेखक की सृष्टि नहीं है। परन्तु उपन्यास में सभी पात्र लेखक की उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न भिन्न उपन्यासों में भिन्न भिन्न रूपों में देखते हैं। यह सम्भव है कि किसी उपन्यास में कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो, पर दोनों एक कभी नहीं हुए हैं। इसीलिए एक विद्वान् ने कहा है कि श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों से भी इतिहास का काम नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक घटनाओं का अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परन्तु वे ऐतिहासिक घटनायें नहीं हैं। सच तो यह है कि उपन्यासों में बाह्य संसार की घटनायें दृग्गोचर अवश्य होती हैं, परन्तु वे स्वयं महत्व-पूर्ण नहीं हैं। औपन्यासिक पात्रों को अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए किसी देश और काल का आश्रय अवश्य लेना पड़ता है। परन्तु ज्यों ही उनकी जीवन-लीला आरम्भ होती है त्योंही हमारा ध्यान देश और काल से हट कर उन पात्रों पर ही केन्द्रीभूत हो जाता है। लेखक का कला-नैपुण्य तभी ज्ञात होता है जब हम उसकी कृति में उन पात्रों का जीवन देख लेते हैं। ऐतिहासिक वर्णन से पूर्ण लम्बे लम्बे परिच्छेदों से जो बात नहीं व्यक्त हो सकती वह उन दो चार वाक्यों से प्रकट हो जाती है जो औपन्यासिक पात्रों के मुँह से निकलते हैं।

(२)

भारतवर्ष के साहित्य-सेवियों में औपन्यासिकों की संख्या सब से अधिक है। यह हाल प्रायः सभी देशों का है। उपन्यासों से सब से बड़ा लाभ यह है कि उनसे घड़ी आध घड़ी अच्छा मनोरञ्जन हो जाता है। इसीलिए उनका प्रचार भी अच्छा है। यदि उपन्यास-लेखक में इतनी कुशलता हो कि वह अपने ग्रन्थ में चित्ताकर्षक घटनाओं का

समावेश कर दे तो उसका परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं होगा। आलोचक भले ही कहते रहें कि इसमें न तो मानव-चरित्र का विश्लेषण है और न समाज का यथार्थ चित्रण है। पर उसमें लोक-प्रियता तो होगी। कुछ विद्वानों की यह राय है कि उपन्यास शिक्षा-प्रद अवश्य हों, कम से कम उनमे सदाचार का संहार तो न किया जाय। पर कितने ही ऐसे लेखक हैं जिन्हें इस बात की ज़रा भी परवा नहीं रहती कि पाठकों पर उनकी कथा का कैसा प्रभाव पड़ेगा। हिन्दी की बात जाने दीजिए। अँगरेज़ी में तो ऐसे उपन्यासों की भरमार है। पर वहाँ ऐसे समालोचक भी है जो ऐसे औपन्यासिकों की पीठ ठोकते हैं। एक समालोचक ने एक ऐसे ही लेखक की तारीफ की है। उक्त लेखक ने अपनी कृति में यह दिखलाया है कि एक स्त्री अपने पति को छोड़ कर एक दूसरे मनुष्य के साथ भाग गई! उसने स्त्री के कार्य का समर्थन किया है और उससे पूरी सहानुभूति प्रकट की है। समालोचक भी लेखक के पक्ष में है। आपकी राय है कि उपन्यास-लेखक का काम सदाचार की शिक्षा देने का नहीं, किन्तु कथा कहने का है।

इसमें सन्देह नही कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरञ्जन है। परन्तु मनोविनोद के लिए अनाचार से पूर्ण उपन्यासों ही की ज़रूरत हो, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें ऐसी ही बातें पसन्द आती है जो समाज की दृष्टि में हेय हैं। पर अधिकांश लोगों को ऐसी बातों से मनोविनोद होता है जो बिलकुल स्वच्छ रहती है। उपन्यासों में जो यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं वे केवल समाज के अन्धकारमय भाग को ही प्रकाशित करना चाहते हैं। यह ठीक नहीं है। संसार में अनाचार ही का राज्य नहीं है, वह इतना उच्छृङ्खल नहीं हो गया है कि उसने धर्म को तिलाञ्जलि दे दी हो। इसी प्रकार जो लोग आदर्श चरित्रों की सृष्टि करना चाहते हैं वे अपने ही आदर्श को सर्वोत्तम समझ कर जगत् का धर्म-गुरु बनने का दावा करते है। वे धर्म-शास्त्र के आचार्य बन कर समाज का पथ निर्दिष्ट कर देना चाहते है।

आज-कल भारतवर्ष के अधिकांश औपन्यासिक अपने उपन्यासों में समाज-सुधार का उपाय बतलाते हैं। जो विधवा-विवाह के पक्षपाती हैं वे अपने ग्रन्थ में विधवा-विवाह की उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। जो उसके विरोधी हैं वे उसका खण्डन कर पातिव्रत का माहात्म्य बतलाते हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रेमी लकीर के फकीरों की दिल्लगी उड़ाते हैं और प्राचीनता के पक्षपाती नवीन सभ्यता की बुराई प्रदर्शित करते हैं। स्त्री-शिक्षा के प्रेमी सास-ननदों के अत्याचारों का वर्णन करते हैं और प्राचीनता के अनुगामी सुशिक्षिता बहू का भ्रष्ट चित्र खींचते हैं। कहानियों में स्थानाभाव से समाज-सुधार की इतनी चर्चा नहीं रहती, तो भी लेखक अपने आदर्श को इतना ऊँचा रखते हैं कि पाठकों का ध्यान उधर अवश्य आकृष्ट हो। लेखक अपने आदर्श को दूसरों पर क्यों लादना चाहते हैं? वे पाठकों को इतना अवकाश क्यों नहीं देते कि पाठक स्वयं उनके पात्रों की परीक्षा करें? कोई कहानियों को धर्म शास्त्र समझ कर तो पढ़ता नहीं। यदि किसी को 'कु' और 'सु' का निर्णय करना हो अथवा समाज-शास्त्र की बातें जाननी हों तो वह कहानी पढ़ने क्यों बैठेगा। धर्म-शास्त्र की बातें जाननी हों तो वह कहानी पढ़ने क्यों बैठेगा, धर्म-शास्त्र का अध्ययन न करेगा? लेखक समाज की दुर्बलता पर आघात अवश्य करे। पर उसे अपने पात्रों के व्यक्तित्व-विकास पर जोर देना चाहिए। मतलब यह कि मनुष्यों के अनुसार समाज की रचना होनी चाहिए। किसी कल्पित समाज के अनुसार मनुष्यों की सृष्टि नहीं होनी चाहिए।

सदाचार का सम्बन्ध समाज से है। सत् और असत् की जो धारणा हम लोगों में है उसको हमने समाज से ही प्राप्त किया है। यदि मनुष्य समाज से बिलकुल पृथक् रहे, यदि समाज से उसका कोई भी सम्बन्ध न हो, यदि वह एकाकी ही अपना जीवन व्यतीत करे तो उसके लिए सत क्या होगा? मनुष्य में जिन नैतिक वृत्तियों का विकास होता है वे समाज की ही सम्पत्ति हैं। समाज के परिवर्तन के साथ उन

नैतिक वृत्तियों में भी परिवर्तन होता है। समाज में परिवर्तन होता ही रहता है और उसके अनुसार मनुष्य की नैतिक वृत्तियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। समाज चिरन्तन है, नैतिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं और परिवर्तन भी चिरन्तन है। न समाज का अन्त होगा और न सदाचार का, परन्तु यह बात भी निश्चित है कि सदाचार का कोई भी आदर्श स्थिर नहीं रहेगा। आदर्श के नाम से सदाचार का कोई भी साँचा नहीं बनाया जा सकता जो सदैव मनुष्यों को एक ही रूप में ढाल सके। कहा जाता है कि धर्म का नाश कभी नहीं होता, सत्य की सदा विजय होती है। जो सत्य है वह देश और काल के अतीत है। अच्छा अच्छा ही रहेगा और बुरा कभी अच्छा नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य यही है कि मनुष्य में धर्म का ज्ञान सदैव बना रहता है। असभ्य जातियाँ भी धर्म के ज्ञान से रहित नहीं होतीं। अच्छे और बुरे की भावना सभी में रहती है। परन्तु जब यह भावना कार्य रूप में प्रकट होती है तब उसके विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। जिस हिन्दू के लिए विधवा-विवाह अधार्मिक है वही यदि ईसाई हो जाय तो उसके लिए विधवा-विवाह अधार्मिक न रहेगा। यह सच है कि कोई धर्म को अधर्म नहीं कहेगा, परन्तु अवस्था बदलने पर वह किसी धार्मिक कृत्य को अधार्मिक कह सकता है। साहित्य में जिस सदाचार का चित्र रहता है वह किसी विशेष काल के विशेष समाज का प्रतिबिम्ब होता है। यदि किसी कवि की कृति में सदाचार का उत्कर्ष अङ्कित हुआ है तो इसका मतलब यही है कि मनुष्य के आचरण में वह उत्कर्ष उसी समय में और उसी समाज में माना जा सकता है जिसमें वह कवि स्वयं हुआ है। दूसरे समय और दूसरे समाज में वह उत्कर्ष जीवन में प्रकट नहीं हो सकता आचरण के उत्कर्ष को सभी लोग, चाहे वह किसी युग और किसी देश के हों, मानेंगे। परन्तु स्वयं उत्कृष्ट आचरण सदैव उत्कृष्ट आचरण नहीं माना जा सकता।

कुछ समालोचक स्वदेशी और विदेशी कवियों की तुलनात्मक

समालोचना करते समय इस बात को भूल जाते हैं। बहुधा साम्प्रदायिक धर्म को ही वे सदाचार की एकमात्र कसौटी मान बैठते हैं। इसी कारण चरित्र का महात्म्य देखना उनके लिये असम्भव हो जाता है। कितने ही विदेशी समालोचक इसी सङ्कुचित दृष्टि के कारण भारतीय चरित्र की गरिमा नहीं समझ सकते। हमें स्मरण है कि हिन्दी के एक विद्वान् ने किसी अँगरेज़ी समालोचक के विषय में यह लिखा था कि जिसके साहित्य में अश्लीलता की हद नहीं वह यदि ब्रजभाषा के साहित्य को अश्लील कहे तो आश्चर्य की बात है। परन्तु उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। जब कोई किसी एक समाज के माप से दूसरे समाज को नापने की चेष्टा करेगा तब उसका परिणाम यही होगा।

अच्छा साहित्य में अश्लीलता है क्या ? जो सदाचार का विरोधी है वह अश्लीलता नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो सत् का संहारक है वही अश्लील है। अश्लीलता से मनुष्य असत् की ओर प्रेरित होता है। वह असत् को सत् नही समझता, किन्तु असत् को असत् समझ कर उसी की प्राप्ति की चेष्टा करता है। जिस साहित्य से ऐसी दुर्भावनायें उत्पन्न हों जिनसे मनुष्य असत् की ओर खिंच जाय उसी को हम अश्लील साहित्य कहेंगे। जब कोई वैज्ञानिक मनुष्य के अङ्ग अङ्ग की परीक्षा कर शरीर-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करता है तब क्या उसके हृदय में कोई दुर्भावना उत्तेजित होती है ? जो विद्यार्थी शरीर-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी इस क्रिया को देखते हैं उनके भी हृदय में क्या उस समय कोई दुर्भावना उत्पन्न होती है ? इसी प्रकार जब कोई चित्रकार अपनी अन्तर्गत सौन्दर्य-भावना को एक रूप देता है तब क्या वह किसी दुर्भावना के वशीभूत होता है ? जब कोई कवि मनुष्य के अन्तस्तल की परीक्षा कर उसके अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश डालता है तब क्या वह मनुष्यों को असदाचार की शिक्षा देता है ? इसके विपरीत मनुष्य की पाशविक वासनाओं की तृप्ति के लिए जब कोई काम-शास्त्र की रचना करता है तब उसकी रचना अश्लील

कही जा सकती है। जब कोई चित्रकार मनुष्य के चित्त को विकृत करने के लिए कोई चित्र अङ्कित करता है तब उसके चित्र से अवश्य विकार उत्पन्न होता है। जब कोई कवि शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति के लिए कामुकों की क्रीड़ा का वर्णन करता है तब उसकी कृति अवश्य अश्लील हो जाती है। जिस साहित्य अथवा कला का उद्देश सत्य की परीक्षा या ज्ञान-वृद्धि है वही श्रेयस्कर है।

(३)

आज-कल सभी देशों में उपन्यासों की खूब वृद्धि हो रही है। पुस्तक-रचना का मुख्य उद्देश तो यह है कि उसके द्वारा मनुष्यों की ज्ञान-वृद्धि हो और उनमें सद्भाव जागृत हों। परन्तु अधिकांश उपन्यास ऐसे होते हैं कि उनसे न तो ज्ञान की वृद्धि होती है और न सद्भाव का प्रचार ही होता है। यही नहीं, किन्तु उनसे असद् भावनाओं का प्रचार होता है। ऐसे ग्रन्थों का प्रभाव समाज के लिए बड़ा ही अनिष्टकर होता है। इसीलिए बड़े बड़े विद्वान् परीक्षक उनका प्रचार रोकने के लिए यत्नशील हैं। अधिकांश परीक्षकों की यही धारणा है कि आधुनिक साहित्य में कुरुचिपूर्ण ग्रन्थों ही की अधिक वृद्धि हो रही है।

साहित्य में मलिन रचनाओं का प्रचार बन्द कर देना बड़ा कठिन काम है। अच्छी और बुरी किताबों का निर्णय करना भी सहज नहीं है। हालब्रुक जानसन नामक एक विद्वान् ने लिखा है कि पत्रों में कुत्सित साहित्य के विषय में चर्चा तो खूब की जाती है, परन्तु अभी तक थोड़े ही लोग यह समझ सके हैं कि सचमुच साहित्य है क्या। अधिकांश लोगों की धारणा यह है कि कुत्सित साहित्य में उन्हीं ग्रन्थों का समावेश किया जाना चाहिए जिनमें प्रचलित धर्म, समाज अथवा सदाचार के विरुद्ध बातें लिखी जाती है। कुछ लोग यह समझते हैं कि वही बुरी किताबें हैं जिन्हें हम किसी नवयुवक अथवा नवयुवती के हाथ में देने से हिचकते है। हालब्रुक जानसन साहब का कथन है

कि कुत्सित साहित्य के अन्तर्गत इन दोनों प्रकारों के ग्रन्थों की गणना नहीं हो सकती। आप की तो यह राय है कि सर्वसाधरण जिसे कुत्सित साहित्य समझते हैं वही यथार्थ में पढ़ने योग्य साहित्य है। आप कहते हैं कि बुरी किताब यथार्थ में वे हैं जिनमें सत्य का संहार किया जाता है। जो कृत्य सचमुच कुत्सित हैं उन पर समाज की मुहर लगाकर भव्यरूप देने का प्रयत्न किया जाता है। जिनमें मिथ्या को इतना प्रश्रय मिलता है उन्हें लोग कचित् ही निन्दनीय समझते हैं। अधिकांश लोग जिन उपन्यासों को शिक्षादायक समझ कर पढ़ते हैं उन्हीं के द्वारा कुशिक्षा और मिथ्या संस्कारों का प्रचार होता है। सत्साहित्य वह है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति के लिए चेष्टा करे। जो साहित्य सन्तोष की शिक्षा देती है वह यथार्थ में अनिष्टकर है।

हिन्दी में ही असत्य के प्रतिपादक 'शिक्षादायक' उपन्यासों का अभाव नहीं है। धर्म के पथ को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यदि किसी समाज को मिथ्या आदर्शों से सन्तोष होता है तो वह यही हिन्दू समाज है। अपने समाज की दुरवस्था की ओर ध्यान न देकर और उसके प्रतिकार की चेष्टा न कर ये ग्रन्थकार भगवती सीता और सावित्री के पातिव्रत का स्मरण करा समाज के मिथ्या धार्मिक संस्कार और अन्ध-विश्वास की पुष्टि करते हैं। समाज की मिथ्या धारणा के विरुद्ध भी कुछ कहना साहस का काम है। जो लोग समाज को उसका यथार्थ रूप दिखलाने की चेष्टा करते हैं उन्हें तिरस्कार और लांछना सहनी पड़ती है! बात यह है कि समाज साहित्य पर सदैव अपना प्रभुत्व रखना चाहता है। समाज का पथ सदैव निर्दिष्ट रहता है। उच्छृङ्खलता उसे सह्य नहीं है। जो व्यक्ति उसकी मर्यादा को भङ्ग करने की चेष्टा करता है उसे समाज कठोर दण्ड देता है। साहित्य भी उसका प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता है। यदि किसी ने समाज की नीति के विरुद्ध लिखा तो वह अधार्मिक समझा जाता है और उसे दबाने की पूरी

चेष्टा की जाती है। तो भी साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र स्थान पा लेते हैं। यह तभी होता है जब साहित्य में व्यक्तित्व का विकास होने लगता है। अन्त में उसी के द्वारा समाज की मर्यादा भङ्ग हो जाती है। जब हम साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र देखते हैं तब हमें यही बतलाया जाता है कि यह चित्र अनिष्ट-कर है। परन्तु यथार्थ बात यह है कि वह चित्र समाज के भविष्य विप्लव की सूचना देता है। जिस शृङ्खला के द्वारा समाज काल की गति को अवरुद्ध करना चाहता है। उसकी भङ्गुरता का आभास हमें उसी चित्र से मिलता है। समाज के पास धर्म का एक साँचा होता है। वह उसी जीवन को धार्मिक समझता है जो उस साँचे में ढला रहता है। वह धर्म को जीवन से पृथक् रखता है। उसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति जीवन से नहीं होती, परन्तु जीवन ही धर्म के आधार पर निर्मित होता है। धर्म के अन्तर्गत होने से पितृ-स्नेह धार्मिक है, मनुष्य-जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने से वह धार्मिक नहीं है। यदि समाज की आज्ञा हो तो व्यक्ति को महाराज दशरथ की तरह पुत्र-स्नेह भी छोड़ना पड़ता है। अपनी धर्म-पत्नी के अधिकारों की अवहेलना करना अधार्मिक है, परन्तु समाज की मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् रामचन्द्र जी को सीता जी का त्याग करना पड़ा। समाज का शासन अमान्य नहीं हो सकता। वही यथार्थ में धर्म माना जाता है। भारतवर्ष में धर्म ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य माना जाता है। परन्तु सच पूछो तो हिन्दू-धर्म कोई वस्तु नहीं है। हिन्दू समाज ही सब कुछ है। धर्म का जो स्वरूप समाज से निश्चित होता है एक-मात्र वही धार्मिक समझा जाता है। जब कोई व्यक्ति समाज से अपना स्वत्व माँगता है तब समाज उसे अधार्मिक कह कर दबाना चाहता है। यही जब साहित्य में प्रकट होता है तब समाज के पक्षपाती आदर्श की दुहाई देकर उसको निर्मूल कर देना चाहते हैं। साहित्य में आदर्श की जो कल्पना की गई है वह बिलकुल मिथ्या है। साहित्य में आदर्श की सृष्टि हो नहीं सकती।

किसी विशेष परिस्थिति में यदि किसी ने किसी प्रकार के जीवन को आदर्श माना हो तो क्या उसका वह परिमित जीवन अनन्त मानव-जीवन के लिए आदर्श हो सकता है ? जब लोग साहित्य में किसी आदर्श की सृष्टि कर यह कहते हैं कि वस्तुतः जीवन ऐसा होना चाहिए तब वे किसी विशेष परिस्थिति का वर्णन करते हैं, आदर्श का नहीं।

यह सच है कि साहित्य में जिन चरित्रों ने अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है उनके प्रति मनुष्य की दृढ़ भक्ति है। हिन्दू-साहित्य में राम, कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, सीता, सावित्री आदि के चरित्र चिरस्मरणीय बने रहेंगे। ये हम लोगों के दैनिक जीवन में मिल गये हैं। यदि ये हिन्दू जाति की स्मृति से लुप्त कर दिये जायँ तो हिन्दू-धर्म और भारतीय सभ्यता का विशाल भवन ढह जाय। वेद और शास्त्रों की चर्चा में अल्पसंख्यक विद्वान ही निरत रहते हैं। अधिकांश हिन्दुओं का धर्म-ज्ञान राम और कृष्ण की कथा ही तक है। कुछ लोग कदाचित् यह कहें कि उपासना के केन्द्र होने के कारण इन्हीं चरित्रों पर हिन्दू-धर्म स्थापित है। परन्तु उपासना का कारण है इनके जीवन की सम्पूर्णता। उनकी ईश्वरता ध्यान-गम्य है, परन्तु उनकी मनुष्य-लीला हृद्गम्य है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपना जो रूप दिखलाया वह योगियों के लिये है। सर्व साधारण तो उनके मनुष्यरूप ही पर मुग्ध हैं। अतएव साहित्य का एक मात्र ध्येय मनुष्य जीवन की सम्पूर्णता है और वही साहित्य श्रेयस्कर है जिसमें मनुष्य जीवन की पूर्णता पर विचार किया गया है। हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों में शायद दो ही चार ऐसे हों जो सत्य की कसौटी पर अच्छी तरह कसे जा सकते हैं।

(४)

उपन्यासों में सत्य का प्रायः बहिष्कार किया जाता है। औपन्यासिक घटनाएँ कल्पित अवश्य होती हैं। परन्तु ये प्राकृतिक नियमों का व्यतिक्रमण नहीं कर जातीं। हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों में

मनुष्य के मनुष्यत्व का विकास प्रदर्शित नहीं किया जाता। उपन्यास-लेखक अपनी इच्छा के अनुकूल ही अपने पात्रों को कठपुतलियों के समान नचाया करते हैं और वे अपने पाठकों से यही आशा रखते हैं कि पाठक चुपचाप उनके पात्रों का नृत्य-कौशल देखा करें। इससे उपन्यास में मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। हिन्दी के उपन्यासों के पात्र सह्य और असह्य सभी प्रकार के कष्ट सह सकते हैं। संसार में सज्जनों पर विधाता की सदैव अनुकूल दृष्टि नहीं रहती। पर इन पात्रों के भाग्य विधाता उनकी स्थिति को अनुकूल ही कर देते हैं। यदि कोई उपन्यास दुःखान्त हुआ है तो उसका कारण स्थिति की प्रति-कूलता नहीं। किन्तु पात्रों का दुर्भाग्य समझना चाहिए। स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन के समान कितने ही लोग अपने ही उपन्यास को सुखान्त और दुखान्त दोनों कर डालते हैं। आपका कहना भी था कि जो दुःखान्त के प्रेमी हैं वे ग्रंथ के अन्तिम दो पृष्ठ फाड़ डालें, सुखान्त दुखान्त हो जायगा। विधाता के विधान का फैसला दो ही पृष्ठों पर कर दिया गया। हिन्दू-मात्र पूर्व जन्म पर विश्वास करते हैं। उनका ख़याल है कि विधाता निरङ्कुश नहीं है। मनुष्य अपने ही कृत्यों का फल भोगता है। पर हिन्दी के उपन्यासकार इसके क़ायल नहीं। एक ही कृत्य के लिए ये चाहें तो किसी को स्वर्ग दे सकते हैं या नरक में ढकेल सकते हैं। मानव-स्वभाव की गरिमा का जरा भी ख़याल न रख किसी के चरित्र को कालुष्य-पूर्ण बता कर उस पर पूरा अत्याचार किया जाता है। चरित्र का उत्थान और पतन बिलकुल साधारण बात है। यही हिन्दी के उपन्यासों का मिथ्या अंश है।

सभी देशों के साहित्य में जातीय गौरव की रक्षा की जाती है। सभी मनुष्यों को अपनी जाति का अभिमान होता है। यही कारण है कि अपने जातीय गौरव की रक्षा के लिए, समय आने पर, साधारण मनुष्य भी आत्म-त्याग कर सकता है। कभी कभी लोग जातीय अभिमान से प्रेरित होकर प्राण तक देना स्वीकार करते हैं पर वे अपनी

जाति को किसी प्रकार अपमानित होते नहीं देख सकते। अँग्रेज़ी के एक कवि ने एक छोटी सी कहानी लिखी है। उसमें एक अँगरेज़ी सैनिक का जातीय अभिमान प्रदर्शित हुआ है। उस कहानी के विषय में कहा गया है कि वह एक सच्ची घटना के आधार पर लिखी गई है। कहानी का सारांश यह है कि एक बार चीन में एक अँगरेज़ तीन सिक्खों के साथ कहीं गुल-गपाड़ा करता हुआ पकड़ा गया। जब वे चारों किसी चीनी अफ़सर के सामने लाये गये तब उस अफ़सर ने कहा—तुम लोग मुझे झुक कर सलाम करो, नहीं तो मार डाले जाओगे। तीनों सिक्खों ने सलाम कर अपनी प्राण-रक्षा की। पर उस अँगरेज़ ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में वह मार डाला गया। इसी घटना को लेकर अँगरेज़ कवि ने अँगरेज़ों के जातीय अभिमान की प्रशंसा की है और काले सिक्खों की कायरता की ओर इशारा किया है। सिक्ख-जाति के इतिहास में ऐसी घटनाओं का अभाव नहीं है जिनमें सिक्खों ने सहर्ष प्राण त्याग दिये हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि सिक्ख जाति प्राण देना नहीं जानती। पर जिनका हृदय क्षुद्र होता है वे जातीय अभिमान के कारण दूसरों में गुण देख ही नहीं सकते। ऐसे लोगों की रचनाओं में विदेशी जातियों का घृणास्पद चित्र अङ्कित रहता है। साहित्य में धार्मिक असहिष्णुता की भी अभिव्यक्ति होती है। शेक्सपियर के समान श्रेष्ठकवि भी इस दोष से बचे नहीं हैं। शायलाक को उन्होंने इतना लोभी बनाया है कि वह अपनी एकमात्र कन्या का मृत शरीर देखना चाहता था जिससे वह अपना रुपया पा सके। सर वाल्टर स्काट ने अपने आइवनहो नामक उपन्यास में भी एक यिहूदी का ऐसा ही चित्र अङ्कित किया है। यद्यपि उसमें धन-लिप्सा अत्यधिक थी तोभी वह पितृ-स्नेह से शून्य नहीं था। अँगरेज़ी साहित्य में भारतीयों के प्रति घृणाव्यञ्जक भाव विद्यमान हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी विदेशियों के प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है। यहाँ हम उसी की ओर अपने पाठक का

ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

हिन्दी के उपन्यासों में अकबर की चरित्र-हीनता की कथाएं मिलतीं हैं। इसका सबसे बड़ा कारण टाड साहब का राजस्थान का इतिहास है। परन्तु सिर्फ अकबर ही चरित्र-हीन दर्शित नहीं किये गये हैं। औरङ्गज़ेब भी कामुक और विलासी बनाये गये हैं। जिस प्रकार क्रोध के लिये दुर्वासा ऋषि प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अपनी क्रूरता के लिये औरङ्गज़ेब। ये तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कुछ समय पहले जो सामाजिक उपन्यास निकले हैं उसमें शायद ही कोई सच्चरित्र मुसलमान हो। हिन्दू-ललनाओं की सतीत्व-रक्षा के लिए हिन्दी लेखक जितने सावधान थे उतने सावधान मुसलमान स्त्रियों के विषय में नहीं थे। आज कल जो छोटी छोटी कहानियां प्रकाशित होती हैं उनमें अवश्य सच्चरित्र मुसलमानों का अभाव नहीं हैं। परन्तु हिन्दी में कदाचित् अभी तक एक भी ऐसा उपन्यास प्रकाशित नहीं हुआ जिसमें किसी अँगरेज़ का आदर्श चरित्र दिखलाया गया हो। यदि कभी किसी लेखक की इच्छा किसी अँगरेज़ी पढ़े लिखे भारतीय को चरित्र भ्रष्ट करने की हुई तो वह एक अँगरेज़ महिला की कल्पना कर लेता है। धार्मिक विद्वेष के उदाहरण हिन्दी साहित्य में कम नहीं है। इसके सिवा अशिक्षा अथवा कुशिक्षा के परिणाम भी बुरी तरह से दिखाये जाते हैं। ये सभी उपन्यास शिक्षादायक कहे जाते हैं और इनके प्रशंसकों का भी अभाव नहीं है। इनमें से कोई कोई अपनी प्रशंसा में देश और काल की दुहाई देते हैं। परन्तु सच पूछो तो इन रचनाओं से लेखकों की विकार ग्रस्त कल्पना का आभास मिलता है? इनसे शिक्षा तो मिलती नहीं, मिथ्या ज्ञान का प्रचार होता है। इससे केवल द्वेष-भाव की वृद्धि होती है। उपन्यास चाहे ऐतिहासिक हों अथवा सामाजिक, पौराणिक हों अथवा राजनैतिक, उनमें कल्पना की प्रधानता रहती है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्ति लेखक की कल्पना में अपना यथार्थ स्वरूप नहीं रख सकते हैं। अतएव यदि उनके चरित्र-

चित्रण में वही दोष है तो वह लेखक की कल्पना का दोष है। यदि लेखक को अपने उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान है तो वह अपने उपन्यास के प्रत्येक पात्र की जीवन की समीक्षा करेगा। उसे स्मरण रखना चाहिये कि उसके पात्र मनुष्य हैं। वे न तो देवता हैं और न पिशाच। यदि उनका चरित्र देव-तुल्य अथवा पिशाच-तुल्य है तो उसे बतलाना होगा कि वह किस स्थिति को अतिक्रमण कर उस अवस्था को पहुँचा है। लेखक को स्मरण रखना चाहिए कि गोपाल अथवा हेनरी सिर्फ़ हिन्दू या अँग्रेज़ नहीं हैं। वे मनुष्य भी हैं। शायलाक की तरह वे भी कह सकते हैं—हमें काटोगे तो हमें भी दुख होगा, हँसाओगे तो हम भी हँसेंगे, हम भी इच्छा करते हैं, उठते हैं, गिरते हैं। हम में भी गुण और अवगुण हैं, यदि हम बुरे हैं तो किसी कारण से बुरे हैं। हे लेखक, तुम हमारे भाग्य-विधाता बने हो, पर याद रक्खो कि यदि तुम हमारी स्थिति में रहो तो तुम भी बुरे हो सकते हो। अतएव तुम्हें हमारे साथ सहानुभूति रखनी चाहिए। हम जानना चाहते हैं कि हिन्दी के कितने औपन्यासिक अपने कल्पित पात्रों को मनुष्य समझते हैं, उन्हें सिर्फ़ कल्पना की सृष्टि नहीं समझते।

हिन्दी के नाटकों के विषय में एक लेखक ने एक प्रश्न उठाया था। वह था नाटकीय पात्रों की भाषा। हिन्दी नाटकों के विदेशी पात्र एक अद्भुत भाषा में बातचीत करते हैं। कदाचित लेखक अपने नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए ऐसा करते हों। यदि स्वाभाविकता का मतलब यह है कि पात्र जो भाषा संसार में बोलते थे इसी भाषा का उपयोग रङ्गभूमि में करें तो लेखक राम, सीता, राधा और कृष्ण से हिन्दी भाषा में बातचीत क्यों कराते हैं हम नाटकों में कितनी बातों को लेखक के कथनमात्र पर मान लेते हैं; तब हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि एक बंगाली शुद्ध हिन्दी बोल सकता है। तब ऊट-पटांग भाषा में किसी को बात चीत कराने से क्या लाभ? क्या इसी से हास्य-रस का स्रोत फूट पड़ता है? हमारी समझ में तो इससे केवल

पात्र का चरित्र उपहास-जनक हो जाता है। यदि अँगरेज़ी साहित्य में बाबू-इंग्लिश को स्थान मिलता है तो वह केवल बाबुओं की दिल्लगी उड़ाने के लिए। क्या इससे अनुदारता सूचित नहीं होती ?

साहित्य में जातीय अभिमान को जागृति रखने के लिए हम अपने जातीय गौरव का यशोगान कर सकते हैं। परन्तु हमें मिथ्या गर्व नहीं करना चाहिए। हमें हिन्दू-ललनाओं के सतीत्व का गर्व है। परन्तु सामाजिक कुसंस्कार के कारण यदि उनके चरित्र में कुछ दोष आ गये है तो उनकी ओर से हमें अपनी आँख नहीं बन्द कर लेनी चाहिए। हमें अपने गुण दोषों की परीक्षा करनी चाहिए। इसके साथ ही हमें विदेशी के भी गुण-दोष पर दृष्टि डालनी चाहिए। एक विकृत समाज की कल्पना कर हमें अपने हृदय को दूषित नहीं करना चाहिए।

आज कल का उपन्यासों का क्षेत्र खूब व्यापक हो गया है। सभी तरह की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। उनमें कुछ अच्छी होती हैं तो अधिकांश बुरी होती हैं। परन्तु बुरे होने से उपन्यासों का प्रचार कम नहीं होता। देखा गया है अधिकांश पाठकों का मनोविनोद श्रेष्ठ साहित्य से नहीं होता। कभी कभी चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली अनाचार से पूर्ण किताबों की खूब खपत होती है। अँगरेज़ी साहित्य में आज-कल बर्नाडशा का बड़ा नाम है। नाटक-रचना में आप बड़े पटु समझे जाते हैं। आपने अच्छी और बुरी पुस्तकों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये है। आप के विचारों में मौलिकता है, अतएव उनका मर्म नीचे दिया जाता है। हम लोग उपन्यासों में भयानक हत्यारों की भीषण लीलायें देखते हैं। परन्तु उससे हम स्वयं घातक नहीं हो जाते। यही नहीं, किन्तु हमारी जिघांसा की प्रवृत्ति एक कल्पित राज्य में जाकर आप से आप नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार हम काव्यों में श्रेष्ठ नर-नारियों का चरित्र पढ़ते हैं, उनके सद्गुणों का परिचय पाते हैं। पर वे सद्गुण की कल्पना के ही क्षेत्र में अवरुद्ध हो जाते हैं। हमारी सत्प्रवृत्तियाँ उत्तेजित तो अवश्य होती हैं पर वे कल्पित राज्य में ही

विलीन हो जाती हैं। अब विचारणीय यह है कि वाचनालयों में कैसी किताबें रक्खी जायँ। हमारी समझ में तो वहाँ ऐसी ही किताबें रक्खी जायँ जिनमें दुराचारियों का वर्णन रहे। जासूसी उपन्यासों में चोरों और बदमाशों का ख़ूब हाल रहता है। अतएव पुस्तकालयों में उन्हीं की भरमार रहनी चाहिए। ऐसी किताबों को पढ़ते पढ़ते जब पाठकों को अनाचार से विरक्ति हो जायगी तब वे स्वयं आकर कहेंगे—भाई, अब कोई ऐसी किताब दो जिसमें आदर्श चरित्र अङ्कित किया गया हो। किसी साधु पुरुष अथवा महात्मा का जीवन-चरित हो। तब पुस्तकालय के अध्यक्ष को उत्तर देना चाहिए—सद्गुणों के निदर्शन के लिए संसार ही प्रधान-कार्य क्षेत्र है। आप स्वयं जाकर अच्छे अच्छे काम कीजिए। यदि कभी आप में दुष्प्रवृत्तियाँ जागृत हों तो आकर किताबें पढ़िए। मैं आप को फिर ऐसी किताबें दूँगा जिनसे आपकी दुष्प्रवृत्ति ख़ूब उत्तेजित होगी और अन्त में आप से आप नष्ट हो जायगी। बर्नार्डशा के कथन का यही सार है। जो लोग साहित्य में अनाचार के द्वार अवरुद्ध करना चाहते हैं उन्हें बर्नार्डशा की इस सम्मति पर विचार करना चाहिए।

हिन्दी में साधारणतः जो उपन्यास प्रकाशित होते हैं उनमें विषय की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया है। विषय महत्त्व-पूर्ण होने से ग्रन्थ भी महत्त्व-पूर्ण हो, यह कोई बात नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे लेखकों की महत्त्वाकांक्षा सूचित होती है। हिन्दी के उपन्यासों, नाटकों और आख्यायिकाओं तक का विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि उसमें एक बार निपुण ग्रन्थकारों की बुद्धि भी चक्कर खा जाय। आदर्श ऊँचा रखना बुरा नहीं, परन्तु उस आदर्श को मनुष्य-जीवन में दिखलाने के लिए अनुभूति चाहिए। जिसने अभी भारतीय राजनीति के साधारण तत्त्वों को समझा नहीं है वह यदि कल्पना के बल से उपन्यास में राजनैतिक जीवन का रहस्योद्घाटन करना चाहे तो इसे उसका साहस कहना चाहिए। यही हाल सामयिक तथा धार्मिक

समस्याओं का भी है। किसी विधवा को आजन्म ब्रह्मचारिणी अङ्कित कर देने से भारतीय समाज की दुर्दशा दूर नहीं हो जाती और न शिक्षित रमणी का विकृत चित्र खींच देने से स्त्रियों की समस्या हल हो जाती है। संसार में कर्मयोग का जीवित चित्र खींच देना साधारण काम नहीं है। बुद्धदेव अथवा प्रताप को नायक बना देने से ही नाटक या उपन्यास श्रेष्ठ नहीं हो जाता। एक साधारण मनुष्य के जीवन में जो हलचल होती रहती है पहले उसी का तो चित्र खींचा जाय, फिर किसी उच्च जीवन का विकास दिखलाया जाय। जो लोग बुद्धदेव के जीवन का रहस्य बतलाना चाहते हैं वे पहले अपने जीवन की परीक्षा कर लें। जब तक वे अपने जीवन में बुद्धदेव की महत्ता का अनुभव नहीं कर लेंगे तब तक वे केवल कल्पना के सहारे बुद्धदेव के पास नहीं पहुँच सकते। रामचरितमानस लिखने के लिए गोस्वामी जी की जरूरत होती है। रामचरितमानस गोस्वामी जी की कल्पना का फल नहीं है। वह उनकी साधना का, अनुभूति का, फल है। हिन्दी के नये ग्रन्थों में दो चार को छोड़ कर सभी में इसी अनुभूति का अभाव है। कुछ लोग असाधारणता को ही उत्तमता समझते हैं। इसी के फेर में पड़ कर लोग मनुष्य को न देखकर उनका स्वाँग देख रहे हैं।

उपन्यास में भी भावुकता और राष्ट्रीयता की ऐसी लहर आई है कि जिसे देखो वही अपने दिल का फफोला फोड़ रहा है। सीधी, सच्ची बात को लोग उपन्यास का विषय नहीं समझते मानो विकार-ग्रस्त मनुष्य के प्रलाप में ही कला का चमत्कार है।

साहित्य का उद्देश ज्ञान का प्रचार करना है, कम से कम सत्-साहित्य का उद्देश है। साहित्य से मनुष्य का जो मनोरञ्जन होता है उसका कारण है उसकी स्वाभाविक ज्ञानलिप्सा। यदि उसमें ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा बलवती न होती तो साहित्य के किसी भी अङ्ग से उसकी मनस्तुष्टि न होती। मनुष्य मनुष्य-समाज को जानना चाहता है। इसी से इतिहास, नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति-विज्ञान आदि शास्त्रों

की सृष्टि होती है। वह मनुष्य के अन्तस्तल में प्रवेश करके उसके अन्तर्निहित भावों को जानना चाहता है। इसी से काव्य का निर्माण होता है। वह प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करना चाहता है। इसी से विज्ञान की रचना होती है। जब वह बाह्य प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध ढूँढ़ने लगता है, तब समाज-शास्त्र की आवश्यकता होती है। मतलब यह कि समस्त साहित्य के मूल में ज्ञान है। साहित्य के जिस अंश से हम ज्ञान का जितना ही अधिक अंश स्वायत्त कर लेते हैं वह हमारे लिये उतना ही अधिक उपादेय है। ज्ञान की प्राप्ति में ही साहित्य की उपादेयता है।

कथा, उपन्यास और अख्यायिका, ये काव्य के अन्तर्गत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि इनका उद्देश केवल मनोरंजन है। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यासों से जितने अधिक लोगों का मनोरंजन होता है उतना अन्य किसी शास्त्र से नहीं होता। परन्तु इससे इनका महत्त्व घटता नहीं है। उपन्यास अथवा कथाओं से मनुष्य का मनोरंजन इसी लिए होता है, क्योंकि उनसे वह अपना मनुष्यत्व पहचान लेता है। इतिहास राष्ट्र से हमें परिचित कराता है और उपन्यास व्यक्ति से। यहीं दोनों में भेद है। राष्ट्र अथवा समाज का ज्ञान हमारे लिए जितना हितकर है उससे कम व्यक्ति का ज्ञान नहीं है। एक में हम राष्ट्र का उत्थान-पतन देखते हैं और दूसरे में व्यक्ति का। जिस कथा से हमें मनुष्यत्व का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही अच्छा समझा जाता है।

अब विचारणीय यह है कि साहित्य में उपन्यासों की क्या मर्यादा है। यह तो स्पष्ट है कि उसका उद्देश ही मानवीय स्वभाव की ज्ञान प्राप्ति है। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि ज्ञान की सीमा यहीं तक है, इससे अधिक हम नहीं जा सकते? उदाहरण के लिए, क्या कथाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनमें हमें श्रेष्ठ पुरुषों के ही जीवन की महत्ता देखनी चाहिए। क्षुद्रों की क्षुद्रता देखने से लाभ क्या? प्राचीन काल की कथाओं में राजा और रानी की ही कहानियाँ वर्णित हुई हैं। रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि सभी काव्यों के

नायक महापुरुष हैं। चरित्र-हीन, नीच, दुष्ट जनों को अपनी कृति द्वारा अक्षय करने की चेष्टा किसी ने नहीं की है। तो क्या ऐसे मनुष्यों का जीवन अवर्णनीय है। निवेदन है कि आँख मूँद लेने से हमारे लिए कोई नहीं रह जाता। परन्तु संसार उठ नहीं जाता। वह जहाँ का तहाँ बना रहता है। इसी लिए जो आँख मूँद कर चलने की चेष्टा करते हैं वे ठोकर भी खाते हैं। अतएव नीति की दृष्टि से तो यह आवश्यक है कि मनुष्य भलाई और बुराई दोनों से परिचित हो जाय। परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि हमें मनुष्य-स्वभाव का पूरा ज्ञान होना चाहिए। एक चरित्र-हीन के जीवन में मनुष्यत्व का विकास हुआ है वह हमारे लिए उपेक्षणीय नहीं है। ऐसे ग्रन्थों के पाठ से चित्त कलुषित नहीं होता। यथार्थ ज्ञान से सहानुभूति उत्पन्न होती है। जिन लेखकों में यह शक्ति नहीं है कि वे मनुष्य के अन्तस्तल तक पहुँच सकें उन्हीं की रचनाओं में मनुष्यत्व का विकृत रूप प्रदर्शित होता है, जिससे चित्त विकृत होता है। मनुष्य के लिए अधःपतन अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु इस पतनावस्था में जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं उन्हीं में यह शक्ति भी रहती है कि वे मनुष्य को उच्चतम अवस्था में ले आवे। अतएव उनका ज्ञान हमारे लिए अनिष्टकर नहीं है।

२—समालोचना-रहस्य

(१)

आज-कल सभी देशों में साहित्य का स्वरूप बड़ा विशाल हो गया है। ग्रन्थों की गगनस्पर्शी राशि देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि ज्ञान का शिखर कितना ऊँचा है। हिन्दी-साहित्य की अभी उन्नत दशा नहीं है। तो भी उसके ग्रन्थों की संख्या अगण्य है। प्रतिवर्ष ग्रन्थों की संख्या बढ़ती ही जाती है। कहा जाता है कि पुस्तकों से ज्ञान की वृद्धि होती है। कभी भारतवर्ष में पुस्तकों की संख्या से ही ज्ञान का अनुमान किया जाता था। जिसने दस पुस्तकें पढ़ी थीं वह पाँच पुस्तकों के पढ़नेवालों से अधिक ज्ञानवान् समझा जाता था। अभी तक हिन्दी में ऐसे विज्ञान-विशारद हैं जिनको इसका गर्व है कि उनके हाथों के नीचे से हज़ारों ग्रन्थ निकल चुके हैं। परन्तु क्या हज़ारों ग्रन्थों के पन्ने उलटनेवाले विज्ञान-विशारदों के ज्ञान का अनुमान उनकी पुस्तकों से ही किया जा सकता है? यदि यही बात होती तो आज जगह जगह न्यूटन ही दिखलाई देते। न्यूटन ने विज्ञान की उतनी किताबें देखी तक न होंगी जितनी किताबें हिन्दी के एक ही विज्ञान-विशारद के हाथों के नीचे से निकल चुकी हैं। बात यह है कि सभी पुस्तकों का उद्देश ज्ञान-वृद्धि नहीं है। अँगरेज़ी में लार्ड बेकन के समय में पुस्तकों की इतनी वृद्धि नहीं हुई थी जितनी आज-कल हो रही है। तो भी उन्हें यह उपदेश देना पड़ा था कि सभी पुस्तकें उदरस्थ करने लायक़ नहीं होतीं। कुछ को चाटना चाहिये, कुछ को चबाना चाहिये और कुछ को निगलना चाहिये। आज-कल साहित्य की वृद्धि होने से कुछ पुस्तक ऐसी भी हैं जिन्हें सिर्फ़ छूना चाहिये और कुछ तो दर्शनीय मात्र हैं।

साहित्य की श्री-वृद्धि से समालोचना का नाम दुष्कर हो गया है। जब सभी पुस्तकों का उपयोग होता है तब उनकी उपयोगिता में कौन

सन्देह कर सकता है। अब प्रश्न यह होता है कि जब हम किसी ग्रन्थ को महत्व-पूर्ण कहते हैं तब उसकी परीक्षा किस कसौटी पर की जाती है? क्या ग्रन्थ का महत्व उसकी उपयोगिता पर है? यदि यही बात हो तो हमें उपयोगिता की स्पष्ट व्याख्या करनी पड़ेगी। उपयोगिता को श्रेणीबद्ध करना पड़ेगा। यह तो सभी जानते हैं कि वही वस्तु उपयोगी है जो मनुष्य के अभावों की पूर्ति करती है। मनुष्यों के अभाव कुछ तो शारीरिक होते हैं और कुछ आध्यात्मिक। मनुष्यों के हृदय में स्वाभाविक ज्ञान-लिप्सा है। ज्ञान का इस इच्छा से मनुष्यों की सुख-लिप्सा विदित होती है—ज्ञान की प्राप्ति से उनके सुखों की वृद्धि होती है। इसलिए मनुष्य ज्ञान का इच्छुक है। अब हम साहित्य की परीक्षा के लिए उपयोगिता-वाद का प्रयोग करते हैं। जो ग्रन्थ अधिकांश सुख दे वही सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम कह सकते हैं कि हिन्दी में रामचरितमानस सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है, क्योंकि उससे अधिकांश लोगों को सब से अधिक सुख मिलता है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि इस में लोक-प्रियता ही ग्रन्थ की सच्ची कसौटी मानी गई है। जो ग्रन्थ सबसे अधिक लोक-प्रिय है वही सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण होगा।

आज-कल मेरी कुरेली के उपन्यास खूब लोक-प्रिय हैं, अतएव उन्हें भी महत्त्व-पूर्ण मानना पड़ेगा। हिन्दी में चन्द्रकान्ता ने कभी अधिकांश लोगों का खूब मनोरञ्जन किया। तब उसकी भी महत्ता हमें स्वीकार करनी पड़ी। इधर ऐसे भी बड़े बड़े ग्रन्थकार हैं जिनकी महत्ता में किसी को सन्देह नहीं, पर उनके ग्रन्थ को कोई पढ़ता ही नहीं। यदि पाठकों की संख्या पर ग्रन्थ की उत्तमता अवलम्बित रहे तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। संसार में विशेषज्ञों की संख्या कम है, अल्पज्ञ की अधिक है। अतएव छोटे छोटे लोक-प्रिय ग्रन्थकार ही बाज़ी मार ले जायँगे। कालिदास ने लिखा है—'आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-

विज्ञानम् ।' यही बात दूसरे लोगों ने भी कही है। साहित्य का मर्मज्ञ विद्वान् ही साहित्य की उत्तमता का निर्णय कर सकता है।

उपर्युक्त बात को हम भी मानते हैं। तो भी हम यही कहेंगे कि ग्रन्थ का महत्त्व पाठकों की संख्या पर भी अवलम्बित है। यह सम्भव है कि किसी विशेष समय में कोई किताब लोक-प्रिय हो जाय। परन्तु यदि उसमें महत्त्व नहीं है तो वह अधिक काल तक लोक-प्रिय भी नहीं रहेगी। यदि भवभूति के समय में उसके नाटकों के पाठक दस ही पाँच थे तो आज तक उसके नाटकों की क़द्र करनेवाले पाठकों की संख्या लाखों के ऊपर पहुँच गई होगी। छोटे ग्रन्थकार काल के सामने नहीं टिक सकते। अतएव हमारा सिद्धान्त भ्रामक नहीं हो सकता।

हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध विज्ञान के प्रेमी यह कह सकते हैं कि गम्भीर विषयों के प्रेमी सभी काल में अल्प-संख्यक होते हैं, पर इससे उसका महत्त्व कम नहीं होता। गणित, रसायन-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान आदि विषयों के ग्रन्थ महत्त्व-पूर्ण होते हैं, पर वे थोड़े ही लोगों को अधिकतम सुख दे सकते हैं। डार्विन के प्रेमी पाठकों की संख्या उतनी कभी नहीं हो सकती जितनी डिकन्स के प्रेमियों की है। तो क्या किसी उपन्यास का महत्त्व वैज्ञानिक ग्रन्थ से अधिक है? यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि वैज्ञानिक ग्रन्थ का महत्त्व हमेशा अस्थायी होता है, उसके सिद्धान्त का प्रभाव स्थायी होता है। न्यूटन के समय में वर्तमान विज्ञान की प्रारम्भिक पुस्तकें भी प्रकाशित होतीं तो न्यूटन का भी दिमाग़ चक्कर खा जाता। इसका कारण उस ग्रन्थ का महत्त्व नहीं है, पर उसके सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण है। पचास वर्ष पहले वैज्ञानिक-साहित्य में जो ग्रन्थ सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण था उसका महत्त्व अब घट गया है। आज तक कितने ही नये सिद्धान्त स्थिर हो गये हैं। तब वैज्ञानिक ग्रंथों का महत्त्व किससे निश्चय किया जाय। जिस ग्रंथ के सिद्धांतों का प्रभाव संसार में सब से अधिक पड़ा है वही सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रभाव मनुष्यों की सुख-वृद्धि ही

के लिए होता है। अतएव यहाँ भी हम उपयोगिता-वाद का प्रयोग कर सकते हैं। जिस वैज्ञानिक ग्रन्थ से अधिकांश लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त हुआ है वही सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है।

अब हमें सुख की भी व्याख्या करनी होगी। शराबियों को शराब से सुख मिलता है, परन्तु वह सुख हानिकर होता है। वही श्रेष्ठ सुख है जिससे सुखों की वृद्धि होती जाय। कितने ही लोगों को गन्दे और अश्लील उपन्यासों में सब से अधिक आनन्द मिलता है। परन्तु ऐसे उपन्यासों का प्रभाव उनके चरित्र पर बड़ा बुरा पड़ता है। फल यह होता है कि ऐसे मनुष्यों को अन्त में दुःख ही सहना पड़ता है। जिस ग्रन्थ से पवित्र भावों का उद्रेक हो यही अधिक सुख दे सकता है। अतएव काव्यों में वही काव्य श्रेष्ठ है जो मनुष्यों को उदार और उन्नत-हृदय करते हैं, नख-शिख के वर्णन में अथवा स्त्रियों के भिन्न भिन्न मनोभावों के चित्रण में कवित्व-कला की पराकाष्ठा दिखलाने वाले कवियों की गणना श्रेष्ठ कवियों में नहीं हो सकती। सौन्दर्य-सृष्टि में भारतीय कला कोविदों की असाधारण क्षमता थी। तो भी वे सौन्दर्य के विकास मात्र से कभी सन्तुष्ट नहीं होते थे। उनकी सौन्दर्य सृष्टि में धर्मादर्श की सूक्ष्म व्याख्या प्रच्छन्न रहती थी।

अब उपयोगिता-वाद के सिद्धांत में 'श्रेय' और 'प्रेय' का झगड़ा नहीं हो सकता। जो 'श्रेय' है वही यथार्थ में 'प्रेय' है। यदि यह बात नहीं है तो उससे मनुष्यों की तत्कालीन कुरुचि सूचित होती है। यह कुरुचि चिरकाल तक नहीं रह सकती।

साहित्य में उपयोगिता-वाद का सिद्धान्त मानने से भाव प्रधान हो जाता है और भाषा गौण। लोकप्रिय वही हो सकता है जो सभी लोगों के लिए बोधगम्य हो। साहित्य का क्षेत्र दो ही चार विद्वानों का विहार-स्थल नहीं रह जाता। उसमें सर्वसाधारण को भी प्रवेश करने की अनुमति रहती है। सब से बड़ी बात यह कि जो साहित्य-धुरन्धर ज्ञान के उच्च शिखर पर बैठकर अनन्त में बिहार किया करते हैं उन्हें पृथ्वी पर

आकर अपनी विद्या का परिचय देना पड़ता है। अतएव साहित्य की भाषा देव-वाणी नहीं होगी, मनुष्य-वाणी होगी। जो लोग अनन्त की अस्पष्ट छाया का दर्शन कर अपनी कृति को छायात्मक बना डालते हैं उन्हें अपने काव्य का कुहासा दूर करना पड़ेगा।

प्रासादगुण का अर्थ सरलता है, परन्तु सच पूछिए तो ग्रामीणता ही सरलता है, उसीमें सरलता का यथेष्ट विकास होता है। नागरिकता में चतुरता है। उसकी सरलता कृत्रिम है। परन्तु साहित्य में वही शालीनता की सूचक है, और ग्रामीणता दोष मानी गई है। साहित्य में ग्रामीण क्यों दोषों के आकर समझे जाते हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता। हम सरलता को ता महत्त्व देंगे, पर सरलता की साक्षात् मूर्ति ग्रामीणों को उससे अलग रक्खेंगे? उपयोगितावाद में ग्रामीणों का भी स्थान है। जो हिन्दी कभी गँवारों की बोली समझी जाती थी उसका भी अब आदर होने लगा है। दान्ते ने शिष्ट जनों की भाषा का तिरस्कार कर ग्रामीण भाषा में अपने महाकाव्य की रचना की और तुलसीदास ने देववाणी की उपेक्षा कर ग्रामीणों की भाषा को अपनी रचना से अलंकृत किया। अतएव ग्रामीणता दोष नहीं है। जब तक ग्रामीण भाषा में पवित्रता है तब तक वह दूषित नहीं और तब तक ग्रामीण भाषा का भी साहित्य पठनीय है।

साहित्य में उपयोगितावाद मानने से यही लाभ है।

(२)

साहित्य के क्षेत्र में लोक-प्रियता भी सफलता का एक चिह्न है। सामयिक ग्रन्थों की सफलता का तो वही एक-मात्र लक्षण है। यही कारण है कोई भी लेखक लोक-रुचि की उपेक्षा नहीं कर सकता। विचारणीय यह है कि साहित्य के निर्माण में लोक-रुचि का कितना प्रभाव पड़ता है।

कहा जाता है कि जो बात एक के लिए रुचिकर है वही दूसरे के लिये अरुचिकर हो सकती है। मनुष्यों में रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है।

तो भी इसमें सन्देह नहीं कि कुछ बातों में सभी मनुष्यों की एक सी रुचि होती है। जिन बातों का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है उनमें रुचि की समानता रहती है। परन्तु जिन बातों का सम्बन्ध देश, काल और अवस्था से है उनमें रुचि वैचित्र्य देखा जाता है। जीवन-रक्षा मनुष्य- मात्र के लिए है। इसलिए भोजन पर सब की एक सी रुचि होगी। परन्तु खाद्य पदार्थों का सम्बन्ध देश, काल और अवस्था से है। इसी लिए खाद्य पदार्थों पर सभी की एक सी रुचि नहीं होती। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो किसी एक विशेष देश के निवासियों को रुचिकर हैं। उनमें भी कुछ ऐसे हैं जो किसी एक विशेष समय में अच्छे लगते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो प्रत्येक मनुष्य की मानसिक और शारीरिक अवस्था के कारण उसे रुचिकर अथवा अरुचिकर होते हैं। यही बात साहित्य के विषय में भी कही जा सकती है। साहित्य में जिन बातों का सम्बंध देश, काल और अवस्था से नहीं है, जो सार्वकालीन और सार्वभौमिक हैं, उनमें रुचि-वैचित्र्य की सम्भावना नहीं है। परन्तु साहित्य के सर्वकालीन और सार्वभौमिक विषयों को समझने के लिए एक विशेष उन्नत मानसिक अवस्था की आवश्यकता है। सभी लोगों की मानसिक स्थिति इतनी उन्नत नहीं होती है कि वे साहित्य के सार्वकालीन भाव को समझ सकें। जो लोग इस अवस्था पर पहुँच गये हैं उनमें रुचि-वैचित्र्य भी नहीं देखा जाता। अधिकांश लोगों की रुचि देश, काल और अवस्था पर निर्भर है। राष्ट्रीय साहित्य किसी एक राष्ट्र के व्यक्तियों को रुचिकर होता है। साम्प्रदायिक साहित्य एक विशेष सम्प्रदाय के अनुयायियों को अच्छा मालूम होता है। अपने अपने ज्ञान के अनुसार लोग अपनी अपनी रुचि के ग्रन्थ ढूँढ़ लेते हैं। लोक-रुचि व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर नहीं है। व्यक्तिगत मानसिक अवस्था को छोड़ कर देश की भी एक मानसिक स्थिति होती है। सर्वसाधारण उसी मानसिक स्थिति पर पहुँचे रहते हैं। उनकी यह मानसिक स्थिति परिवर्तित होती रहती है। लोक रुचि इसी पर निर्भर

है। इसी के अनुसार लोकरुचि में परिवर्तन होता रहता है। इस लोक-रुचि से यह प्रकट हो जाता है कि देश की तत्कालीन सभ्यता किस स्तर पर है। जो साहित्य लोकप्रिय होगा वह उसी स्तर के अनुकूल होगा।

विद्वानों ने मनुष्य की तीन अवस्थायें निर्धारित की हैं। पहली अवस्था है पाशविक। इस अवस्था में मनुष्य की चित्त-वृत्ति वैसी ही होती है जैसी पशुओं की। क्षुधा, निद्रा, भय, क्रोध, आकृष्टि, आदि भाव मनुष्य और पशु में समान है। द्वितीय अवस्था मध्यावस्था है। इसमें मनुष्य की बुद्धि वृत्ति परिपुष्ट होती है। अपनी इसी वृत्ति के कारण मनुष्य पशुओ से पृथक् किया जाता है। तृतीय अवस्था वह है जब मनुष्य अपनी आध्यात्मिक और नैतिक वृत्तियों के कारण अपने पाशविक भावों से बहुत ऊँचा चला जाता है। ये तीन अवस्थायें मनुष्य की व्यक्तिगत जीवन में जिस प्रकार लक्षित होती हैं उसी प्रकार उसके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में भी व्यक्त होती हैं। बाल्यावस्था में उसकी बुद्धि-वृत्ति की पुष्टि होती है। वृद्धावस्था में आध्यात्मिक का विकास होता है। यही बात समाज और राष्ट्र के जीवन में देखी जाती है। जिस प्रकार किसी तेजस्वी और सुखान्वेषी युवक में वृद्धोचित विज्ञता और संयम की आशा करना अनुचित है उसी प्रकार किसी नवोत्थित और तेजोद्दप्त सभ्य जाति से प्राचीन और पुष्ट सभ्यता के नैतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष की आशा करना असङ्गत है। एक बात और भी है। उन्नतिशील जाति के हृदय में तीव्र आकांक्षा रहती है और पतनोन्मुख जाति में उदासीनता और वैराग्य के भाव प्रबल रहते हैं। मध्यावस्था में उसकी सुख-लिप्सा खूब बढ़ी हुई रहती है। तभी जाति में विलासिता की वृद्धि होती है।

यह तो निश्चित है कि प्रथम अवस्था में मनुष्य अपने पाशविक जीवन में ही व्यस्त रहता है। अतएव उसकी रुचि भी उसी जीवन के अनुकूल होती है। बाह्य जगत् उसके लिए अधिक चित्ताकर्षक होता है। जिन कलाओं से उसके जीवन में सुख, स्वच्छन्दता, सुविधा और विलास

की वृद्धि होती है उन्ही के आविष्कार में वह निरत होता है। इन्द्रिय की तृप्ति और जीवन के शारीरिक अभावों को दूर करने की इच्छा उसकी सभी कृतियों में प्रकट होती है। साहित्य में वाह्य जगत् की प्रधानता रहेगी। कला में वाह्य सौन्दर्य की ओर दृष्टि रहेगी। सङ्गीत और कविता मे हृदय की भावनायें स्पष्ट रहेंगी। मतलब यह कि मनुष्य की आत्मा जड़ के अधीन रहेगी और उसकी सभ्यता भी जड़ के अनुगत होगी।

द्वितीय अवस्था में आत्मा पर जड़ का प्रभुत्व नहीं रहता। इससे शारीरिक शौर्य कम हो जाता है। युक्ति का राज्य प्रतिष्ठित होता है। धर्म में तर्क का प्राधान्य होता है। मनुष्य प्राकृतिक और आध्यात्मिक घटनाओं में कार्य्य-कारण का सम्बन्ध ढूँढ़ने लगता है। साहित्य में वस्तुतन्त्रता का प्रभाव उठ जाता है और वह विशुद्ध अवस्था में प्रकट होता है। धर्म की गति नियमित होती है। सङ्गीत और कविता मे स्वरों और अलङ्कारों की सृष्टि होती है। संक्षेप में यह सभ्यता वैज्ञानिक होती है।

तृतीय अवस्था मे वाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक जीवन के प्रति मनुष्य का अधिक अनुराग होता है। आत्म-तृप्ति की अपेक्षा आत्म-संयम की ओर उसका अधिक ध्यान होता है। धर्म मानसिक हो जाता है। स्वार्थ-त्याग और दया के भाव खूब फैलते हैं। द्वितीय अवस्था में मनुष्य की युद्ध-लिप्सा क्षीण हो जाती है और तृतीय अवस्था में तो वह बिलकुल लुप्त हो जाती है। साहित्य, सङ्गीत और कला में चिन्ता-शीलता दिखाई देती है। साहित्य पर लोक-रुचि का प्रभाव यही है।

जो विद्वान् है, साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ हैं, जिन्हें साहित्य के गुण-दोष की परीक्षा करने का अधिकार है, वे यही चाहते हैं कि साहित्य में सुरुचि का प्रचार हो। आजकल हिन्दी में समालोचना की आवश्यकता पर ज़ोर किया जा रहा है, इससे यह स्पष्ट है कि विद्वानों की राय में वर्तमान हिन्दी साहित्य में सुरुचि का अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि सामयिक साहित्य लोक-रुचि की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि

लोक-रुचि विकृत है तो सामयिक साहित्य लोक-प्रिय कैसे हो सकता है ? इसलिए लोक-प्रियता पर जिस साहित्य का अस्तित्व निर्भर है उसके लिए यह सम्भव नहीं कि वह 'सु' और 'कु' की विवेचना करे। यदि वह देखेगा कि लोग 'सु' की अपेक्षा 'कु' की ओर झुक रहे हैं तो वह उसी को ग्रहण करने में सङ्कोच नहीं करेगा। विचारणीय यह है कि साधारण लोग झुकते किस ओर हैं। विद्वानों की राय है कि साधारण लोग साहित्य में सत् और असत् की विवेचना नहीं कर सकते। विवेचना करने का भार विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है। तो भी विद्वानों की रुचि सदैव लोक-रुचि के अनुकूल नही होती। इससे यह तो प्रकट हो जाता है कि सर्व-साधारण भी विद्वानों के विरुद्ध अपनी कोई सम्मति रखते हैं। यदि यह बात न होती तो हमें साहित्य में एक भी ऐसा उदाहरण न मिलता जहाँ सर्वसाधारण और विद्वानों में विरोध हो। सभी लोक-प्रिय ग्रन्थो की प्रशंसा विद्वान नही करते और न विद्वानों द्वारा प्रशंसित सभी ग्रन्थ लोक प्रिय होते हैं। यह होने पर भी ऐसे लोक-प्रिय ग्रन्थों का अभाव नहीं है जो विद्वानों को भी तोष-प्रद है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि लोक-प्रिय ग्रन्थ बुरे ही होते है। तब लोक-रुचि की व्याख्या कैसे की जाय ?

यह कहा जाता है कि भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि होती है। परन्तु लोक-रुचि में सिर्फ भिन्नता नहीं, एकता भी है। एकता से यह बात सिद्ध होती है कि सभी लोग एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार किसी का आदर करते हैं यदि यह बात न होती, यदि लोक-रुचि में सिर्फ भिन्नता रहती, तो संसार का कोई भी काम नहीं चल सकता। साहित्य अथवा कला के क्षेत्र में जब कोई कृति लोक-प्रिय हो जाती है तब उससे यह प्रकट हो जाता है कि साहित्य के विषय मे सर्वसाधारण किस आदर्श को स्वीकार कर रहे हैं। बुरे को बुरा समझकर कोई भी ग्रहण नहीं करता। सर्वसाधारण में अच्छे और बुरे के जो आदर्श प्रचलित हैं उन्हीं के अनुसार 'अच्छे' साहित्य का प्रचार होता है। यदि

'अच्छे' के सम्बन्ध में उनका आदर्श नीचा है तो निम्न श्रेणी का साहित्य भी लोक-प्रिय हो जाता है। लोक-रुचि तभी विकृत होती है जब उनमें मिथ्या-आदर्शों का प्रचार किया जाता है। ये मिथ्या आदर्श कैसे होते हैं, इसकी विवेचना नीचे की जाती है।

विषय की असाधारणता से उसकी महत्ता सूचित नहीं होती और न विषय की महत्ता से यह सूचित होता है कि उसका प्रतिपादन भी महत्त्व-पूर्ण है। भगवान् रामचन्द्र के लोक पावन चरित्र को आदर्श मान लेने पर भी सभी कवि रामचरितमानस की रचना नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि विषय की साधारणता से उनकी क्षुद्रता नहीं प्रकट होती और विषय क्षुद्र होने पर कवि उसमें अपनी शक्ति का पूर्ण विकास दिखला सकता है। कविता का विषय एक पतित मनुष्य होने पर भी विक्टर ह्यूगो के समान श्रेष्ठ कवियों के हाथ में लोक पावन हो जाता है। इसका कारण है कवि की आत्मानुभूति। जिसमें अनुभूति नहीं वह श्रेष्ठ आदर्श को भी विकृत कर डालेगा। कई विद्वानों की यह धारणा है कि दूषित रुचि का परिचायक वह साहित्य है जिसमें समाज का दुराचार वर्णित है, परन्तु यथार्थ में दूषित-रुचि उस साहित्य से प्रकट होती है जिसमें मनुष्यत्व का विकृतरूप, उसका मिथ्या आदर्श प्रदर्शित होता है। कहावत प्रसिद्ध है कि सद्वैद्य के हाथ से विष भी इष्ट है, परन्तु कुवैद्य के हाथ से अमृत इष्ट नहीं है। यही बात साहित्य के विषय में भी कही जा सकती है। साहित्य में जब आदर्श के नाम से असत्य का प्रचार किया जाता है तब उसका परिणाम अधिक भयङ्कर होता है।

साहित्य में कला का भी एक आदर्श होता है जो मनुष्य की सौन्दर्य-भावना का सूचक है। मनुष्य की यह सौन्दर्य-भावना निरर्थक नहीं है। यह उसके आनन्दमय स्वभाव के लिए आवश्यक है। सौन्दर्य केवल बाह्येन्द्रियों का विषय नहीं। मन और आत्मा का भी विषय है। अतएव कला के आदर्श में हमें इस पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। यदि

हमने कला का एक-मात्र वही आदर्श रक्खा जो वाह्येन्द्रियों का विषय है तो हम कला के यथार्थ आदर्श से च्युत हो गये। मिथ्या कल्पना से वाह्येन्द्रियों की तृप्ति भले ही हो, पर मन और आत्मा की तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसी कल्पनाओं से वाह्येन्द्रियों को भी क्षणिक ही तृप्ति होती है। ऐसी कल्पना को कोई भी कला का श्रेष्ठ आदर्श नहीं कहेगा। परन्तु एक कल्पना ऐसी भी है जिसे कला का श्रेष्ठ आदर्श मानने के लिए साहस चाहिए। वह है कवि की मिथ्या अनुभूति की कल्पना। जगत् में सौन्दर्य है, पर यह सौन्दर्य उसीके लिए है जो उसका अनुभव करना चाहेगा। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो सौन्दर्य के विषय में पहले ही से एक साँचा बनाये रखते हैं। जब वे कहीं कुछ देखते हैं तब वे उसमें सौन्दर्य नहीं देखना चाहते हैं। वे सिर्फ़ यही देखना चाहते हैं कि यह रूप किसी प्रकार बदला जाय जिससे वह उनके साँचे में आ सके। हिन्दी साहित्य की 'नायिकायें' उसी साँचें के रूप हैं। वे भारतीय ललनाओं की जीती-जागती मूर्तियाँ नहीं हैं। वे उनके मिथ्या रूप हैं। हिन्दी में आज कल ये साँचे तोड़े जा रहे हैं, परन्तु साँचों को तोड़ देने से ही श्रेष्ठ मूर्ति सामने खड़ी नहीं हो जाती। तोड़ने का काम तो जारी है, परन्तु मूर्ति अभी बन रही है। इसीलिए हिन्दी के कुछ समालोचकों को बड़ा दुःख हो रहा है। वे इसका बदला लेना चाहते हैं। परन्तु हिन्दी में सत्साहित्य की वृद्धि तभी हो सकती है जब सर्व-साधारण में सत् के प्रति अधिक अनुराग उत्पन्न हो। इसके लिए उन्हें सत् के सम्बन्ध में शिक्षा देनी होगी।

(३)

हिन्दी के पत्रों में यदा कदा जो समालोचनात्मक लेख निकलते हैं उनमें प्रायः काव्यों और चित्रों की विशेष चर्चा की जाती है। ऐतिहासिक, वैज्ञानिक दार्शनिक ग्रन्थों की विवेचना में व्यक्ति-गत रुचि काम नहीं देती। अमुक वैज्ञानिक-ग्रंथ हमें प्रिय नहीं है 'यह कहने से उस ग्रन्थ की महत्ता नष्ट नहीं हो जाती। वह हमारी समझ में नहीं

आया, यह कहने से हमारे ही ज्ञान की अल्पता सूचित होगी, वैज्ञानिक ग्रन्थकार की नहीं। ऐसे ग्रन्थों की परीक्षा के लिए योग्यता की ज़रूरत होती है। परन्तु यही बात काव्यों और चित्रों की समालोचना के विषय मे नहीं कही जा सकती। अमुक कहानी हमे अच्छी नहीं लगी, इसलिए वह अच्छी नहीं है, यह बात विद्वान् तक कह डालते हैं। चित्रों की परीक्षा में भी लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार फैसला दे डालते हैं। वह चित्र भद्दा है, यह कहने से ही उस चित्र का भद्दापन हो जाता है। उस कविता में विशेषता क्या है, इतने से ही उसकी हीनता प्रकट हो गई। साहित्यिक ग्रन्थों में व्यक्ति गत रुचि की प्रधानता होने के कारण किसी ग्रंथ विशेष के सम्बंध में विद्वानों में भी झगड़ा होता रहता है। कविता की परीक्षा करना हमारी शक्ति के बाहर है, चित्र-कला से हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं और हमारी रुचि भी परिष्कृत नहीं है। अतएव इस सम्बंध में हमें अपनी ओर से कुछ कहने का अधिकार नही है। अतएव इस सम्बंध में श्रेष्ठ विद्वानों ने जो कुछ लिखा है वही यहाँ दिया जाता है।

अँगरेज़ी में रस्किन का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। कला के सम्बंध में उसने जो कुछ लिखा है उसका आदर सभी लोगों ने किया है। कला में मिथ्या आदर्श के सम्बंध में उसने लिखा है कि शरीर की सुन्दर गठन को सभी देख सकते हैं और समझ सकते हैं, पर शरीर के द्वारा जिस भाव की अभिव्यक्ति होती है उसको देखने के लिए कुछ समझ चाहिए। एपोलो और वीनस की मूर्तियों में सौन्दर्य देखना कठिन नहीं है, पर सेंट पीटर के झुर्रियाँ पड़े हुए चेहरे में सभी सुंदरता नहीं देख सकते। जो चित्रकार मनुष्य की आकृति में भिन्न भिन्न अवस्थाओं की भावना व्यक्त करता है उसको अपने जीवन में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। जो चित्र उसके वर्षों के अध्ययन और परिश्रम का फल है उसके विषय में घड़ी भर फैसला दे देना साहस का काम है। यही रस्किन ने लिखा है कि जो चित्र बड़े परिश्रम से बना है उसको देखते

ही कितने स्थूल बुद्धि दर्शक यह समझने लगते हैं कि हममें कला की विवेचना करने की शक्ति है और वे आदर्श की धूम मचा देते हैं। यदि उनसे यह पूछा जाय कि भाई, तुमने इसमें कला का कौन सा आदर्श देखा तो वे यही कहेंगे कि देखो, इसकी टाँग कैसी ख़ूबसूरत है, इसकी नाक कैसी अच्छी है। इसी प्रकार यदि उन्हें कोई चित्र बुरा जान पड़ा तो वे उसका भी कोई ऐसा ही कारण बतलावेंगे। परंतु हिंदी के कितने समालोचक यह सोचते हैं कि जो कुरूपता हमने क्षण भर में देख ली वह चित्रकार को कैसे नहीं दिखाई दी।

जो बात चित्र के विषय में कही गई है वही काव्य के विषय में भी कही जाती है। काल्पनिक आदर्श के फेर में पड़ कर हम अपने यथार्थ रूप को भूले जा रहे हैं। हिंदी के कुछ श्रेष्ठ समालोचकों की राय में नायक-नायिका की प्रेम-लीला में ही कला की पराकाष्ठा है और कुछ लोग धर्म और देश-भक्ति को ही कला का एक-मात्र आदर्श समझ कर उसी की प्राप्ति में संलग्न हैं। इन विषयों की महत्ता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता, पर यह महत्ता कला की कसौटी नहीं है। कितने ही लोग मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर ऐसे आदर्श की सृष्टि के लिए अपने को सर्वथा योग्य समझते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के सम्बन्ध में रस्किन ने लिखा है कि ऐसे लोग अपने मिथ्याभिमान को स्फूर्ति समझते हैं और अपनी महत्वाकांक्षा को आत्मा की श्रेष्ठता। वे आदर्श की ओर इसी लिए झुकते हैं कि उनमें यथार्थ बात समझ लेने की योग्यता नहीं है। महत् भावना के फेर में पड़ कर किसी देश की क्या दशा हो सकती है, इसका एक प्रमाण हमारा ही देश है।

भारतवर्ष में आज कल देश-भक्ति की बड़ी चर्चा हो रही है। देश-भक्ति की भावना ने ही राष्ट्रीय साहित्य, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय झण्डे और राष्ट्रीय टोपियों तक की सृष्टि की है। भारतीय नवयुवकों में स्वार्थ-त्याग की इच्छा बलवती हो रही है। स्वदेश की हितकामना से कितने ही लोगों ने कारावास तक स्वीकार किया है। देश-सेवा के भाव से

प्रेरित होकर कितने ही नवयुवकों ने दारिद्र-व्रत ग्रहण किया है। मातृ-भूमि के प्रति उनका यह अनुराग देख कर किसकी छाती नहीं फूल उठेगी ? यदि अधिकांश लोगों में देश के प्रति ऐसा ही सच्चा प्रेम उत्पन्न हो जाय तो देश का उद्धार होना कुछ भी कठिन नहीं। परन्तु अपने को देशभक्त कहने ही से कोई देश-भक्त नहीं हो जाता। जो भाव देश के लिए सचमुच श्रेयस्कर है वही जब स्वयं महत्ता का विषय हो जाता है तब उससे देश का कल्याण नहीं होता। जब देश के प्रति आकृष्ट होकर मनुष्य उसकी सेवा में संलग्न होता है तभी उससे लाभ हो जाता है। परन्तु जब देश-सेवा में महत्ता देखकर केवल उस महत्ता की प्राप्ति के लिए मनुष्य उद्योग करता है तब उससे देश को हानि होती है। महत्ता देश-भक्ति में नहीं, किन्तु देशभक्तों में है, स्वार्थ-त्याग में नहीं किन्तु स्वार्थ त्यागियों में है। देश भक्ति का भाव देश-भक्त से पृथक् नहीं है, वह कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बाहर से ठेल दी जाती है। जब कभी कोई उच्च-भाव वाह्य प्रेरणा से प्रचलित किया गया है तब उसका परिणाम अनिष्टकर हुआ है। भिक्षा-वृत्ति स्वीकार करने पर बौद्ध-भिक्षुओं में बिलासिता का भाव फैल गया है, अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करनेवाले रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के धर्मगुरुओं में कामुकता फैल गई है। वैष्णव सम्प्रदाय के इतिहास में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है। हमें ऐसा जान पड़ता है कि आजकल देश-भक्ति महत्ता प्राप्त करने का साधन समझी जाने लगी है। देश-सेवा के कारण बुरे कृत्य भी अच्छे हो जाते हैं। देश-भक्ति की मुहर पड़ते ही सब चीजें महत् हो जाती हैं। यह वह पारस पत्थर है जिसके स्पर्श मात्र से लोहा सोना हो जाता है। हिन्दी-साहित्य में देश-भक्ति की सुधा से संश्लिष्ट होने के कारण कितनी ही सड़ी-गली चीजों को हम गले के नीचे उतार रहे हैं। हिन्दी के पत्रों में हमने ऐसे विज्ञापन देखे हैं जिनमें यह लिखा गया है कि अमुक पत्र के अमुक सम्पादक जेल काट आये हैं। पत्र पर उनका नाम-मात्र रहने से ही पत्र अच्छा हो जाता है। यदि कोई पुस्तक

प्रकाशक देश-भक्त हुआ तो आठ आने की किताब बारह आने में बेच-कर भी देश भक्ति की दुहाई देता है। राष्ट्रीय संस्थाओं से प्रकाशित पुस्तकें मँहगी होने पर भी सस्ती बनी हैं, क्योंकि वे व्यवसाय की दृष्टि से निकाली नहीं जाती। दो एक ऐसी भी पुस्तक-प्रकाशक मण्डलियाँ हैं जो सस्ता काम कराने में युवकों को स्वार्थ-त्याग का उपदेश देती हैं और किताबों को मँहगी बेचने में देश-भक्ति का विज्ञापन देती हैं। हमारा विश्वास है कि हमारे देश में राजनैतिक आन्दोलन की यथेष्ट सफलता न होने का एक कारण यह है कि यहाँ स्वार्थ-त्याग के द्वारा स्वार्थ सिद्धि की जाती है!

जिस प्रकार आज-कल देश-भक्ति से मुलम्मा करने का काम लिया जाता है उसी प्रकार धर्म-भक्ति का भी उपयोग किया जा चुका है। हिन्दी में अश्लील से अश्लील कवितायें भक्ति के नाम से रस-साहित्य में स्थान पा चुकी हैं। उनके माधुर्य का रसास्वादन करनेवाले रसिक-भ्रमरों ने उनमें साधना की पराकाष्ठा देखी है। उनके लिए सारा संसार अन्धा है, आँखें उन्हीं की हैं। सन्तोष की बात यही है कि इस गोप्य-रस के अधिकारी कुछ ही लोग समझे जाते हैं। भगवान् इन नेत्रवानों से अन्धों की रक्षा करे।

(४)

हिन्दी में ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली की कविताओं के सम्बन्ध में अच्छी चर्चा हो चुकी है। कुछ दिन पहले पद्य-परीक्षा नाम की एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। लेखक ने उसमें हिन्दी के कुछ कवियों की रचनाओं में खोज-खोज कर दोष दिखलाये थे। एकाध कवि ने उन दोषों का निराकरण करने की भी चेष्टा की है। किसी काव्य के गुण-दोष की परीक्षा करना सर्वथा उचित है। हमें उसके औचित्य के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है। परन्तु जो लोग साहित्य में परीक्षक का काम करते हैं उनकी कदाचित् यह धारणा हो गई है कि वे न्यायाधीश के आसन पर बैठ कर कवियों के सम्बन्ध में वह

फैसला दे रहे हैं जिसकी अपील नहीं हो सकती। कुछ समालोचक तो यहाँ तक दावा करते हैं कि वे चाहें तो समालोचना-कुठार से इन कवियों को निर्मूल तक कर सकते हैं। साहित्य के उद्यान में समालोचक माली बन कर प्रवेश कर सकते हैं और अपने कुठार के द्वारा वृक्षों पर आघात भी कर सकते हैं। परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि कितने ऐसे वृक्ष हैं जो उनके आघात को सहकर भी जीवित खड़े रहेंगे। कुछ समालोचकों का यह भी विश्वास है कि वे साहित्य के क्षेत्र में ज्ञान की दलाली करते हैं अर्थात् ज्ञाताज्ञेय के मध्य में वे ज्ञापयिता होकर बैठते हैं। यदि पाठकों को किसी ग्रन्थकार के ज्ञान की यथार्थता के विषय में सन्देह हुआ तो समालोचक उनके सन्देह को दूर करने के लिए ग्रन्थकार की शिफ़ारिश अथवा निन्दा कर सकते है। बिना मूलधन के दलाली अच्छी तरह की जा सकती है। उसी तरह ज्ञान की पूँजी न रहने पर भी समालोचक ज्ञान की दलाली कर सकता है। परन्तु उसकी उपयोगिता पर हमें सन्देह है। साहित्य में लोक-प्रियता सदैव उत्तमता का अनुसरण नहीं करती। जो ग्रन्थ साहित्य के श्रेष्ठ रत्न हैं उन्हें पढ़ने के लिए अथवा खरीदने के लिए संसार के छोटे-बड़े सभी आदमी टूट नहीं पड़ते। कभी कभी यह भी देखा गया है कि समालोचकों ने जिस ग्रन्थ की प्रशंसा में वाह वाह की धूम मचा दी वह कुछ ही वर्षों में लुप्त हो गया है। इसके विपरीत कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिन पर समालोचकों ने खूब आक्षेप किये, पर अन्त में उन्हीं का आदर हुआ। अपने जीवन-काल में कीट्स और शेली ने समालोचकों से कौन सा पुरस्कार पाया? जो समालोचक साहित्य के बाज़ार में ज्ञान की दलाली कर रहे थे उन्होंने वर्डस्वर्थ का कितना समादर किया? बेचारे भवभूति को ही इन छिन्द्रान्वेषकों से कौन सी कीर्त्ति मिली जिसके लिए उन्होंने काल की दुहाई दी है? सच बात यह है कि यदि किसी की कृति में सचमुच कुछ गुण है तो उसका आदर होगा ही और यदि उसका रचना निस्सार है तो वह कुछ समय के लिए लोक-प्रिय भले ही हो जाय पर अन्त में

वह उपेक्षणीय ही होगा। जातीय स्वर में स्वर मिलाकर कितने ही क्षुद्र कवि भी अपने समय में प्रशंसा पा लेते हैं, पर उनकी रचना अल्प-कालीन होती है। कुछ समय के बाद लोग उसका नाम तक भूल जाते हैं। अँगरेज़ी में एडिसन नामक एक कवि ने अपने जीवन काल में ड्यूक आव मार्लबरो के विजय पर काव्य लिखकर अच्छी ख्याति प्राप्ति की थी। परन्तु उसके उस काव्य का नाम तक अधिकांश लोगों को अब ज्ञात नहीं है। अस्तु।

कविता की परीक्षा में दो बातें विशेष विचारणीय हैं, एक तो कवि का व्यक्तित्व और दूसरा उसका सन्देश। कवि के भाव और भाषा तक पर उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है। बात यह है कि भाषा भाव का अनुसरण करती है। इसीसे उसकी भी एक निश्चित शैली हो जाती है। विशेष विशेष छन्दों पर भी उसका अधिकार हो जाता है। कालि-दास की भाषा कालिदास की ही भाषा है, उस भाषा पर न तो माघ का अधिकार है और न भवभूति का। भवभूति की रचना उतनी प्रासा-दिक नहीं जितनी कालिदास की। परन्तु यदि भवभूति कालिदास की भाषा का अनुकरण करते तो उनकी रचना इतनी आदरणीय भी नहीं होती। हिन्दी के कुछ रसिक ब्रजभाषा की प्रशंसा में सदैव निरत रहते है। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि जिन कवियों ने ब्रजभाषा को अपना लिया था वही उसमें काव्य लिख कर यशस्वी हुए हैं। केवल ब्रजभाषा का उपयोग मात्र करके वे यशस्वी नहीं हुए हैं। तुलसीदास जी बड़े भारी कवि हैं, उनकी कवित्व-शक्ति पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि यदि वे बिहारी की भाषा में लिखते तो वे बिहारी से बढ़ जाते अथवा यदि बिहारी सतसई न लिख कर रामचरित मानस लिखते तो वे तुलसीदास हो सकते? जो लोग किसी कवि की भाषा पर आक्षेप करते हैं वे अन्याय करते हैं। कवि ने अपनी इच्छा से जिस भाषा का उपयोग किया है उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना व्यर्थ है। वह दोषपूर्ण भले ही हो, पर उसी में उसकी

फैसला दे रहे हैं जिसकी अपील नहीं हो सकती। कुछ समालोचक तो यहाँ तक दावा करते हैं कि वे चाहें तो समालोचना-कुठार से इन कवियों को निर्मूल तक कर सकते हैं। साहित्य के उद्यान में समालोचक माली बन कर प्रवेश कर सकते हैं और अपने कुठार के द्वारा वृक्षों पर आघात भी कर सकते हैं। परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि कितने ऐसे वृक्ष हैं जो उनके आघात को सहकर भी जीवित खड़े रहेंगे। कुछ समालोचकों का यह भी विश्वास है कि वे साहित्य के क्षेत्र में ज्ञान की दलाली करते हैं अर्थात् ज्ञाताज्ञेय के मध्य में वे ज्ञापयिता होकर बैठते हैं। यदि पाठकों को किसी ग्रन्थकार के ज्ञान की यथार्थता के विषय में सन्देह हुआ तो समालोचक उनके सन्देह को दूर करने के लिए ग्रन्थकार की शिफ़ारिश अथवा निन्दा कर सकते हैं। बिना मूलधन के दलाली अच्छी तरह की जा सकती है। उसी तरह ज्ञान की पूँजी न रहने पर भी समालोचक ज्ञान की दलाली कर सकता है। परन्तु उसकी उपयोगिता पर हमें सन्देह है। साहित्य में लोक-प्रियता सदैव उत्तमता का अनुसरण नहीं करती। जो ग्रन्थ साहित्य के श्रेष्ठ रत्न हैं उन्हें पढ़ने के लिए अथवा खरीदने के लिए संसार के छोटे-बड़े सभी आदमी टूट नहीं पड़ते। कभी कभी यह भी देखा गया है कि समालोचकों ने जिस ग्रन्थ की प्रशंसा में वाह वाह की धूम मचा दी वह कुछ ही वर्षों में लुप्त हो गया है। इसके विपरीत कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिन पर समालोचकों ने खूब आक्षेप किये, पर अन्त में उन्हीं का आदर हुआ। अपने जीवन-काल में कीट्स और शेली ने समालोचकों से कौन सा पुरस्कार पाया? जो समालोचक साहित्य के बाज़ार में ज्ञान की दलाली कर रहे थे उन्होंने वर्डस्वर्थ का कितना समादर किया? बेचारे भवभूति को ही इन छिन्द्रान्वेषकों से कौन सी कीर्त्ति मिली जिसके लिए उन्होंने काल की दुहाई दी है? सच बात यह है कि यदि किसी की कृति में सचमुच कुछ गुण है तो उसका आदर होगा ही और यदि उसका रचना निस्सार है तो वह कुछ समय के लिए लोक-प्रिय भले ही हो जाय पर अन्त में

वह उपेक्षणीय ही होगा। जातीय स्वर में स्वर मिलाकर कितने ही क्षुद्र कवि भी अपने समय में प्रशंसा पा लेते हैं, पर उनकी रचना अल्प-कालीन होती है। कुछ समय के बाद लोग उसका नाम तक भूल जाते हैं। अँगरेज़ी में एडिसन नामक एक कवि ने अपने जीवन काल में ड्यूक आव मार्लबरो के विजय पर काव्य लिखकर अच्छी ख्याति प्राप्ति की थी। परन्तु उसके उस काव्य का नाम तक अधिकांश लोगों को अब ज्ञात नहीं है। अस्तु।

कविता की परीक्षा में दो बातें विशेष विचारणीय हैं, एक तो कवि का व्यक्तित्व और दूसरा उसका सन्देश। कवि के भाव और भाषा तक पर उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है। बात यह है कि भाषा भाव का अनुसरण करती है। इसीसे उसकी भी एक निश्चित शैली हो जाती है। विशेष विशेष छन्दों पर भी उसका अधिकार हो जाता है। कालि-दास की भाषा कालिदास की ही भाषा है, उस भाषा पर न तो माघ का अधिकार है और न भवभूति का। भवभूति की रचना उतनी प्रासा-दिक नहीं जितनी कालिदास की। परन्तु यदि भवभूति कालिदास की भाषा का अनुकरण करते तो उनकी रचना इतनी आदरणीय भी नहीं होती। हिन्दी के कुछ रसिक ब्रजभाषा की प्रशंसा में सदैव निरत रहते हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि जिन कवियों ने ब्रजभाषा को अपना लिया था वही उसमें काव्य लिख कर यशस्वी हुए हैं। केवल ब्रजभाषा का उपयोग मात्र करके वे यशस्वी नहीं हुए हैं। तुलसीदास जी बड़े भारी कवि हैं, उनकी कवित्व-शक्ति पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि यदि वे बिहारी की भाषा में लिखते तो वे बिहारी से बढ़ जाते अथवा यदि बिहारी सतसई न लिख कर रामचरित मानस लिखते तो वे तुलसीदास हो सकते? जो लोग किसी कवि की भाषा पर आक्षेप करते हैं वे अन्याय करते हैं। कवि ने अपनी इच्छा से जिस भाषा का उपयोग किया है उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना व्यर्थ है। वह दोषपूर्ण भले ही हो, पर उसी में उसकी

शोभा है। कार्लाइल की भाषा में विचित्रता है, पर यह विचित्रता ही उसकी एक विशेषता है। यदि वह विशेषता नष्ट कर दी जाय तो ग्रन्थ का गौरव भी घट जाय। हिन्दी के वर्तमान कवियों में शङ्कर की भाषा पर आक्षेप किया जा सकता है। हमारी सम्मति है कि शङ्कर की कविता की एक विशेषता उनकी भाषा की विलक्षणता है। मिश्री के डले में बाँस की फाँस की तरह यह भाषा कविता के साथ मिली हुई है। यदि आप भाषा को कविता से पृथक् करना चाहेंगे तो आप मिश्री के डले से भी हाथ धो बैठेंगे।

प्रत्येक कवि को एक सन्देश देना रहता है। वह उसकी आत्मा की पुकार है, वह उसकी अनुभूति का फल है। यदि सचमुच कवि ने अपने अन्तर्गत में किसी सत्य का अनुभव किया है तो वह उसे अवश्य प्रकट करेगा। वह सत्य संसार के प्रचलित धर्म के विरुद्ध हो, समाज के विपरीत हो, मनुष्यों के चिरकालार्जित संस्कारों के विरुद्ध हो, परन्तु कवि उसे अवश्य प्रकट करेगा। हम हिन्दी के कवियों की बात नहीं कहते। परन्तु जो सचमुच कवि हैं, जिन्होंने सचमुच आत्मानुभूति-द्वारा सत्यसे साक्षात्कार लाभ किया है उनके अन्तःकरण से जो उद्गार निकलेगा वह सत्य के रूप में प्रकट होगा। उनकी उक्तियाँ छन्दः शास्त्र की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती और न समालोचकों के क्षुद्र साँचे से उनकी कला की महत्ता नापी जा सकती है। यही नहीं, किन्तु जिस कवि को कुछ सन्देश नहीं देना है, जो घड़ी भर लोगों में क्षणिक उत्तेजना फैला देना चाहता है, हास्य, करुणा, शृङ्गार आदि रसों की अवतारणा कर जो पाठकों के हृदय में भिन्न भिन्न भावों का उद्रेक करने में ही अपनी कृतकृत्यता समझता है उसकी भी सफलता की कसौटी न तो छन्दः-शास्त्र है और न साहित्य-शास्त्र। यह देखा गया है कि साहित्यशास्त्र के आचार्य्य जिन रचनाओं को देख कर नाक भौं सिकोड़ते हैं वही सैकड़ों पाठकों और दर्शकों के मनोरञ्जन की सामग्री होती हैं। तो क्या यह कुछ भी नहीं है? हमारी समझ में कविता की सच्ची

कसौटी जनता है। जिस कविता को जितने ही अधिक लोग, जितने ही अधिक काल तक अपनावेंगे वह उतनी ही अधिक अच्छी समझी जायगी।

(५)

कुछ समय पहले रवीन्द्र बाबू ने कविता के विषय में एक लेख लिखा था। यहाँ उनके विचारों का सारांश दिया जाता है।

संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें कहीं भी कुछ अच्छा नहीं दिखाई देता। साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं है। वे यही कहते फिरते हैं कि लोग कुछ भी ठीक तरह नहीं कर रहे हैं। साहित्य की दुर्दशा हो रही है। समय खराब है। परन्तु सर्वदा ऐसी दुश्चिन्तायें करते रहने पर भी वे आराम से रहते हैं। बात यह है कि जाड़े में आग की तरह दुश्चिन्ता की अग्नि भी उपकारी है, यदि वह पास रहे पर शरीर को छूने न पावे।

कविता के सम्बन्ध में अब परीक्षकों की राय है कि लोग असली वस्तु को नहीं पाते। सचमुच यह अनुचित बात है। वस्तु का तो पता नहीं, पर दाम दे दिये और ख़ुशी से हँसते हँसते चले गये, ऐसे बुद्धि-हीनों के लिए एक सुयोग्य अभिभावक नियुक्त होना ही चाहिए। अतएव लोग अब समालोचक की खोज कर रहे हैं। साहित्य में इस पद के लिए वही योग्य है जिसे कवि अपने कला-कौशल से ठग नहीं सकता, जो पल भर में समझ जाता है कि कहाँ वस्तु है और कहाँ नहीं। जो लोग असत्-साहित्य के विषय में देश को सावधान कर रहे हैं वे नाबालिग पाठकों के लिए कोर्ट आव् वार्ड्स का काम कर रहे हैं। पर समालोचक कितना ही विचक्षण क्यों न हो, वह चिरकाल तक पाठकों को गोद में लेकर नहीं सँभालेगा। धात्री या धृत होना किसी के पक्ष में अच्छा नहीं। अतएव पाठकों को यह स्पष्ट रूप से समझा देना चाहिए कि किसे वस्तु कहना चाहिए और किसे नहीं। मुश्किल यह है कि वस्तु एक नहीं है और न सब स्थानों में हम एक ही वस्तु का तत्त्व ग्रहण करते हैं। मनुष्यों के स्वभाव में विभिन्नता है, उनके प्रयोजन भी

भिन्न भिन्न हैं। इसलिए विभिन्न वस्तुओं के अनुसन्धान में उन्हें घूमना पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि साहित्य में किस वस्तु को हम ढूँढ़ते हैं। साहित्य के आचार्य कहते हैं कि वह है रस-वस्तु। कहना नहीं होगा कि रस-निरूपण के लिए एक साहित्य की ही अवतारणा की जाती है। यह रस ऐसी चीज़ है कि इसकी यथार्थता के विषय में विवाद होने पर लाठी चलने तक की नौबत आ जाती है और एक पक्ष अथवा दोनों पक्षों के भू-पतित होने पर भी कोई मीमांसा नहीं होती है।

रस के नाम से जो वस्तु प्रसिद्ध है वह सदैव एक रसिक की अपेक्षा करती है। केवल अपने से वह अपने अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकता। संसार में विद्वान्, बुद्धिमान्, देशहितैषी, लोक-हितैषी आदि कितने ही गण्य-मान्य सज्जन हैं। परन्तु जैसे दमयन्ती ने सब देवताओं को छोड़ कर नल के ही गले में जयमाला डाली थी वैसी ही रस-भारती सब को छोड़ कर केवल रसिक का अनुसन्धान करती है। समालोचक छाती तान कर और ताल ठोक कर कहेंगे, मैं ही वह रसिक हूँ। प्रतिवाद करने की हिम्मत नहीं होती। किन्तु अरसिक ने अपने को अरसिक जान लिया हो, ऐसी अभिज्ञता संसार में दिखाई देती नहीं। रस-परीक्षा के लिए सभी लोग अपनी ही रुचि को अन्तिम मीमांसा समझते हैं। मूलधन न रहने से भी दलाली की जा सकती है। इसी तरह साहित्य समालोचना में भी कोई समालोचक मूलधन की अपेक्षा नहीं करता। समालोचक का पद बिलकुल निरापद होता है।

यदि साहित्य में परीक्षा का काम इतना अनिश्चित है तो साहित्य-सेवियों के लिए उपाय क्या है। यदि साहित्य-सेवी अपनी सेवा का निश्चित फल जानना चाहें तो उन्हें इसका भार अपने प्रपौत्र पर देना पड़ेगा। परन्तु वे चाहें तो एक काम कर सकते हैं। वह यह कि जो लोग उनकी रचना को पसन्द करें उन्हीं को वे कविता के मर्मज्ञ मानें। दूसरे लोगों को वे समझदारों की पङ्क्ति में बैठावें ही मत। ऐसे

विचारालय पास तो हैं नहीं जहाँ दूसरे पक्ष के लोग नालिश कर सकते हैं। यह सच है कि काल की अदालत में इसका विचार होता रहता है। परन्तु इस दीवानी अदालत की तरह दीर्घ सूत्री अदालत अँगरेज़ों के भी मुल्क में नहीं। काल का प्यादा जिस दिन ख्याति की सीमा से उनकी कीति के खम्भे उखाड़ देने के लिए आवेगा उस दिन के लिए समालोचक अपेक्षा नहीं कर सकते।

सचमुच रस का एक आधार है। पर क्या रस की वस्तु का वजन निकाल लेने से साहित्य का दाम जाँचा जा सकता है? रस के भीतर एक नित्यता है। प्राचीन काल में मनुष्य जिस रस का उपभोग कर चुके हैं उसका अभाव आज भी नहीं है। किन्तु वस्तु की दर बाज़ार के अनुसार सुबह-शाम बदलती रहती है।

तब कवियों का अवलम्बन क्या है? वह है कवि की आन्तरिक अनुभूति और आत्मप्रसाद। साहित्य के बाज़ार में कवितावस्तु की दर घटती बढ़ती है। वहाँ भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न मत, भिन्न भिन्न पाठकों की भिन्न भिन्न रुचि, भिन्न भिन्न कालों के भिन्न भिन्न फ़ैशन होते हैं। यदि कवि इनमें फँसा तो उसका काव्य बाज़ारू हो जायगा। कवि के हृदय में जो ध्रुव आदर्श वर्तमान है उसी के ऊपर उसे निर्भर होना चाहिए। वह आदर्श हिन्दू या अगरेज़ का आदर्श नहीं है। कवि जानते हैं कि जो उनके लिए सत्य है वह दूसरे के लिए मिथ्या नहीं है। यदि वह किसी के लिए मिथ्या है तो वह मिथ्या ही मिथ्या है। जो लोग आँख मूँद कर बैठते हैं उनके लिए जैसे प्रकाश मिथ्या है वैसे ही यह भी मिथ्या है। अपनी कृति की वास्तविकता के विषय में कवि ही प्रमाण हैं। उस प्रमाण की अनुभूति सबको नहीं हो सकती। अतएव विचारक के आसन पर बैठ कर जिसकी जैसी ख़ुशी हो वैसी राय वह दे सकता है। पर डिक्री होने के मौक़े में वही कामयाब हो, यह कोई बात नहीं है।

३—पत्र

(१)

सत्य,

हिन्दी-साहित्य के प्रति तुम्हारा अनुराग देखकर मुझे सचमुच प्रसन्नता हुई। हिन्दी सदैव शिक्षितों के द्वारा तिरस्कृत होती आई है। अभी कल ही एक शिक्षित व्यक्ति ने अपनी हिन्दी-विषयक अयोग्यता को बड़े गर्व से प्रकट किया। यह बात कितनी लज्जाजनक है, यह उसने अनुभव ही नही किया। मुख्य कारण यह है कि उच्च शिक्षा अँगरेजी द्वारा दी जाती है। विचारशील विद्वानों की यह राय है कि मातृ-भाषा के द्वारा उच्चशिक्षा देने से देश में विद्या की प्रचार-वृद्धि होगी। जब तक विद्यालयों में किसी भाषा का पूर्ण प्रवेश न हो जाय, तब तक शिक्षणीय विषय उसी भाषा में न सिखाये जांयगे, तब तक उस भाषा की यथार्थ प्रतिष्ठा होने की नहीं। यदि भारतवर्ष का अधिकांश शिक्षित वर्ग अपनी मातृ-भाषा की उपेक्षा करता है तो उसका कारण यही है। जाति में राष्ट्रीय भावों को जागृत करने के लिये राष्ट्रीय साहित्य की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए और जब तक यह शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा नहीं दी जाती, तब तक शिक्षा मे राष्ट्रीयता का अभाव रहेगा। समय-समय पर बड़े-बड़े पदाधिकारियों ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली से असन्तोष प्रकट किया। देश के सर्वमान्य नेताओं ने भी उसके विरुद्ध आन्दोलन किया। गवर्नमेंट ने भी प्रचलित शिक्षा प्रणाली में संशोधन करने की आवश्यकता समझी। एक कमीशन बैठाया गया। उसने अपना मन्तव्य बड़ी-बड़ी जिल्दों में प्रकाशित किया। नये-नये विद्यालयों की सृष्टि होने लगी। पुराने विश्वविद्यालयों में भी परिवर्तन किये जाने लगे। परन्तु अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ है कि मातृभाषा ही के द्वारा उच्चशिक्षा दी जाय। एक विद्वान की यह राय है कि भारतवर्ष में देशी

भाषाओं के द्वारा तभी शिक्षा दी जा सकती है जब उनमें ये तीन बातें हों। पहली बात यह है कि भाषा का रूप स्थिर हो, उसका व्याकरण सर्वमान्य हो। दूसरी बात यह है कि उसमें शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकों की अच्छी संख्या हो और इन पुस्तकों की भाषा भी परिमार्जित हो। तीसरी बात यह है कि भाषा के रूप को स्थिर करने के लिए और पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए ऐसे विद्वान कटिबद्ध हों जो प्राचीन साहित्य का पूर्ण ज्ञान रखते हों। हिन्दी में इन बातों के लिए अच्छी चेष्टा की जा रही है। भाषा का स्थिर रूप देने के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में जो प्रस्ताव पास किया गया था उसको कार्य रूप में परिणित करने के लिए स्थायी-समिति ने चेष्टा की थी। उसका परिणाम क्या हुआ यह तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु मेरा विश्वास है। कि अब हिन्दी में सर्वमान्य नियमों का प्रचार हो गया है। पाठ्य-ग्रन्थों का अभाव शीघ्र पूर्ण नहीं हो सकता। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की उच्च परीक्षाओं में अँगरेज़ी-भाषा ही की पुस्तकें रक्खी गई हैं। इन ग्रन्थों का अनुवाद करना बहुत आवश्यक है। यदि हम यह चाहते हैं कि हिन्दी-भाषा ऐसी समुन्नत हो जाय कि उसके द्वारा उच्च शिक्षा दी जाने लगे तो हमें विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, अर्थ शास्त्र, इतिहास आदि विषयों की श्रेष्ठ पुस्तकें तैयार करनी होंगी। इस काम के लिए उपयुक्त विद्वानों और प्रकाशकों की आवश्यकता है। आजकल हिन्दी में कई पुस्तक-मालाएँ निकल रही हैं, परन्तु इनमें स्थायी साहित्य की ओर दृष्टि न डाल कर लोक-रुचि का ही अधिक ख़याल रक्खा जाता है। अभी तक हिन्दी में सैकड़ों नये नये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु उनमे दो ही चार शायद ऐसे हों जिन्हें हम पाठ्य-पुस्तकों में रख सकें। जो पुस्तक-प्रकाशक व्यवसाय की दृष्टि से पुस्तक-प्रकाशन का कार्य कर रहे हैं उनमें हमें कुछ नहीं कहना है। वे तो ऐसी ही किताबें निकालेंगे जिनसे टके वसूल हो सकें। परन्तु जिन लोगों ने देश-सेवा के उच्च भावों से प्रेरित हो कर पुस्तक-प्रकाशन का काम स्वीकार किया है, उन्हें तो इसका पूरा ख़याल रखना चाहिए

कि जिस विषय पर वे ग्रन्थ विद्वानों से लिखा रहे हैं वह कैसा विषय है और उसका लेखक उस विषय का कितना अच्छा ज्ञान रखता है। यदि विषय महत्वपूर्ण हो और लेखक विद्वान है तो इसका पूरा प्रबन्ध किया जाना चाहिये कि लेखक अपने ग्रंथ में अपनी विद्वता का पूरा उपयोग कर सके। दस अनुपयोगी अथवा कम महत्व के ग्रंथ प्रकाशित करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि किसी विषय का एक अच्छा ग्रंथ प्रकाशित हो जाय यदि हिन्दी के पुस्तक-प्रकाशक इस ओर ध्यान दें तो थोड़े ही समय में हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकों का अभाव दूर हो जाय। तभी यह सम्भव है कि विश्व-विद्यालयों में हिंदी भाषा का प्रवेश शीघ्रता से हो सकेगा।

यह तो स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य के क्षेत्र में अभी उच्चकोटि के विद्वान् आये नहीं हैं। जो लोग अभी हिंदी में काम कर रहे हैं उनमें अधिकांश अत्यंत साधारण स्थिति के हैं। इसीलिए हिंदी का आधुनिक साहित्य-क्षेत्र विस्तृत तो अवश्य हो गया है, पर उसे गौरव-प्राप्त नहीं हुआ। साहित्य का जो अंश कल्पना-प्रसूत होता है उसके लिए विद्वत्ता की नहीं, प्रतिभा की आवश्यकता होती है। उच्चकोटि के कवि या उपन्यास-लेखक उच्चकोटि के विद्वान् नहीं होते। हिंदी साहित्य को जो कुछ गौरव मिला है वह विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न कवियों के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। आधुनिक हिंदी साहित्य में भी कवियों और उपन्यास-लेखकों के द्वारा ही नव-साहित्य का निर्माण हो रहा है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन सभी कवियों में असाधारण प्रतिभा है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनमें विलक्षणता आवश्यक है। यदि हिन्दी साहित्य को मान प्राप्त होगा तो उन्हीं लेखकों के द्वारा। विद्वानों की प्रवृत्ति तो हिन्दी की ओर तभी झुकेगी जब उसमें लिखना वे अपने लिए गौरव की बात समझेंगे। अभी तो हिन्दी उनके लिए सेव्य नहीं, दयनीय है।

(२)

सत्य,

तुमने हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में जो लिखा है उसे मैं मानता हूँ। हिन्दी-साहित्य की उन्नति के लिए आवश्यक बातों तक की बड़ी चर्चा की जाती है, परन्तु कभी-कभी उन्नति के लिए सचमुच कुछ चेष्टा भी की जाती है। साहित्य सम्मेलन के एक अधिवेशन में यह निश्चित किया गया है कि दो लाख रुपया एकत्र कर प्रयाग में एक हिन्दी-मन्दिर बनाया जाय जिसमें प्राचीन पुस्तकों और शिला लेखों आदि का संग्रह किया जाय। ऐसे संग्रहालय से सिर्फ कौतूहल की निवृति नहीं होनी चाहिए। किन्तु उसमें ज्ञान की वृद्धि के लिए यथेष्ट साधन होना चाहिए, सभी तरह की पुरानी किताबों की अपेक्षा महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संग्रह करना अधिक अच्छा होगा। जिन वस्तुओं का ऐतिहासिक महत्व है उनका ही संग्रह करना लाभदायक है। साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि विषयों के सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ चाहे वे जिस भाषा में हों, हमारे लिए हित-कर हैं। अपनी ही वस्तु होने के कारण सड़ी-गली निकम्मी चीज़ों का संग्रह करना लाभदायक नहीं है। हिन्दी में अभी तक इतिहास की कोई मौलिक रचना प्रकाशित नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि ऐति-हासिक गवेषणा के प्रति हिन्दी के विद्वानों की प्रवृति कम है और फिर उसके लिए साधन भी कम हैं। यदि साहित्य-सम्मेलन के समान संस्थाएँ हिन्दी के विद्वानों में यह भाव उत्पन्न कर सकें जिससे वे साहित्य-शास्त्र की गाँठें सुलझाने के सिवा हिन्दी-साहित्य की ऐतिहासिक आलोचना में भी प्रवृत्त हो जाँय तो उससे कम लाभ नहीं होगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि ऐसी संस्थायें इतिहास के भिन्न-भिन्न विषयों की श्रेष्ठ पुस्तकों की सूची प्रकाशित किया करें और उन पुस्तकों का संग्रह करने के लिये भी प्रयत्न करें। उनमें से जिन ग्रन्थों का हिन्दी में किया जाना आवश्यक है उनके लिये अनुवाद भी कराये जाँय। इससे हमारे ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होगा, नवीन भावों का प्रचार होगा और तभी मौलिक

साहित्य की सृष्टि होगी।

आजकल अनुवादों के प्रति लोगों का आदर कम हो गया है। इसका फल यह हुआ है कि कुछ लोग अनुवाद को अनुवाद कहने का भी साहस नहीं करते। इससे केवल मिथ्या का प्रचार हो रहा है। हिन्दी साहित्य में जो आजकल मिथ्याभिमान फैल रहा है वह हमारे लिए बड़ा अनिष्टकर है। दूसरों से ज्ञान प्राप्त करने में हमें लज्जा नहीं करनी चाहिए। यदि सत्य के प्रति हमारे हृदय में अनुराग है तो हम सत्य के ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं करेंगे। हिन्दी के एक विद्वान ने किसी एक पत्र में खेद प्रकट किया है कि आजकल हिन्दी समालोचना में विदेशी तराजू का उपयोग किया जा रहा है। कहने में तो यह अच्छा लगता है पर है यह मिथ्या। यदि सोना सच्चा हो तो उसके लिए कोई कहीं से भी तराजू ले आवे, हमें डर नहीं है। फिर ज्ञान का विषय किसी देश-विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता। तब ज्ञान के अन्वेषणों में स्वदेशी और विदेशी का झगड़ा क्यों हो? मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हममें अभी सत्य की प्राप्ति के लिए कम उत्कण्ठा है, अभी हममें नैतिक बल का अभाव है। हिन्दी की उन्नति का सबसे बड़ा बाधक हमारी समझ में मिथ्या गर्व का भाव है, जिसके कारण हम अपनी यथार्थ स्थिति को नहीं देख सकते। हम लोग अभी जिस गौरव का स्वप्न देख रहे हैं, उसकी प्राप्ति के लिए न तो हम परिश्रम कर रहे हैं और न कोई उपाय सोच रहे हैं। केवल अपने मिथ्या गर्व को पुष्ट करने के लिए तरह तरह की चिन्ताएँ की जा रही हैं। अपने अभाव और हीनता का अनुभव करना सदैव श्रेयस्कर होता है, क्योंकि तभी हम उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं।

(३)

सत्य,

मैं तुम्हारे अनुवाद कार्य को प्रशंसनीय समझता हूँ। यह सच है कि हिन्दी साहित्य में मौलिक ग्रन्थों और लेखों की बड़ी माँग है। कम

से कम अनुवादों के प्रति लोगों की कुछ विरक्ति-सी हो गई है। मौलिक साहित्य से जाति की कर्त्तृत्व-शक्ति प्रकट होती है। हम संसार से लेते हैं तो हमें भी कुछ देना चाहिये, यह इच्छा स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य में प्राचीन कवियों के ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं जिन्हें वह सगर्व संसार को दे सकता है। आधुनिक साहित्य में अभी ऐसे ग्रन्थों का अभाव है। इस अभाव का कारण है कर्त्तृत्व शक्ति का अभाव। इस शक्ति के विकास के लिये यह आवश्यक है कि हम अपने साहित्य में यथेष्ट ज्ञान-सम्पत्ति सञ्चित करें। जो वृक्ष पृथ्वी से रस ग्रहण करता है वही समय आने पर यथेष्ट फल देता है। कोई वृक्ष अपने आप ही रस नहीं प्राप्त करता। हिन्दी में इतिहास, विज्ञान, राजनीति, दर्शन-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि आवश्यक विषयों की अभी यथेष्ट प्रारम्भिक पुस्तकें नहीं बनी हैं। अतएव इन विषयों में अभी मौलिक ग्रन्थों की आशा रखना दुराशा-मात्र है। जब विद्वान् किसी विषय का यथेष्ट अध्ययन कर लेता है तब वह दूसरों को शिक्षा देने में समर्थ होता है। परन्तु हिन्दी में साहित्य के कितने ही ऐसे ठेकेदार हैं जिन्होंने समस्त ज्ञान का ठेका ले लिया है। वे राजनीति, दर्शन, वैद्यक, नाटक, कविता सभी लिख सकते हैं। हिन्दी में सब से अधिक आवश्यक है ज्ञान का प्रचार और सुरुचि की वृद्धि करना। मेरा विश्वास है कि मौलिकता के नाम से गन्दी किताबों को और निस्सार लेखों को पाठकों के गले में मढ़ना श्रेयस्कर नहीं है। उस दिन मैंने एक नाटक पढ़ा। प्रस्तावना में लेखक ने कहलाया है कि यह नाटक असाधारण है। इससे आनन्द का सञ्चार, समाज का सुधार, देश का उपकार, कुरीतियों का संहार तथा नवीन भावो का प्रचार होने की सम्भावना है। मेरी समझ में इसमें एक भी ऐसा मुख्य पात्र नहीं है जो काशी के किसी भी उपन्यास के पात्रों से विशेषता रखता हो। इसमें नाटककार की कोई भी विशेषता नहीं है, जिससे कहा जा सके कि उनमें कर्त्तृत्व-शक्ति है। तो भी इसके प्रकाशक हिन्दी का भाण्डार भरने के लिए इसे लेकर दौड़ पड़े

हैं। वे अभी तक राजनैतिक और धार्मिक किताबें प्रकाशित करते थे, परन्तु इस नई चीज़ ने उन्हें विवश कर दिया और वे हिन्दी का अभाव दूर करने के लिए उद्यत हो गये। ऐसे मौलिक नाटकों से विशेष लाभ नहीं होने का। अच्छा यह होगा कि अन्य भाषाओं के प्रसिद्ध नाटकों और उपन्यासों के अनुवाद किये जायँ। उनसे ज्ञान की वृद्धि होगी और सुरुचि का प्रचार होगा। जब लोग जानने लगेंगे कि सत्साहित्य क्या है तब ऐसे निकम्मे नाटकों को प्रकाशित करने का कोई साहस भी नहीं करेगा। साहित्य में प्रतिभा टके सेर नहीं बिकती है। सभी देशों के साहित्य में प्रतिभाशाली लेखक दो ही चार जन्म लेते हैं। यदि हम अपने साहित्य की श्रीवृद्धि करना चाहते हैं, तो हमें इन सभी प्रतिभाशाली लेखकों को अपनाना होगा। दानो की जन्मभूमि इटली में तुलसीदास का, रामचरित मानस चला गया, परन्तु हमारे हिन्दी-साहित्य मे अभी एक भी विदेशी विश्वकवि की रचना विद्यमान नहीं है। सड़े-गले मौलिक नामधारी ग्रन्थों को लेकर सन्तोष प्रकट करना सचमुच आश्चर्य की बात है। परन्तु जब कोई उन्हीं ग्रन्थों का गर्व करता है तब उसकी सुबुद्धि पर दया आती है। हिन्दी के कुछ मौलिक नामधारी पुस्तकों की एक विशेषता और है। कुछ समय से हिन्दी के पुस्तक प्रकाशकों ने विद्वानों से पुस्तकों की प्रस्तावना लिखाना प्रारम्भ किया है। अधिकांश प्रस्तावना में लेखकों को समय की सङ्कीर्णता रहती है कि वे किताब को पढ़ भी नहीं सकते। तो भी वे प्रस्तावना में अतिशयोक्ति का इतना अधिक आश्रय लेते हैं कि उनके सामने हिन्दी के विज्ञापन भी थोथे जँचने लगते हैं। एक ही विषय के कई ग्रन्थ निकलते हैं। परन्तु सभी के लेखक यह कहते हैं कि हमीं ने हिन्दी का अभाव दूर करने का बीड़ा उठाया है। यह हर्ष की बात अवश्य है कि हिन्दी के सब लेखक हिन्दी की दयनीय दशा से द्रवित हो लेखनी उठाते हैं। कीर्ति अथवा धन की इच्छा इनको छू तक नहीं गई। कुछ लेखकों की यह परोपकार वृत्ति और भी बढ़ी चढ़ी है। वे अपने विषय

से अनभिज्ञ होने पर भी ग्रन्थ-निर्माण का परिश्रम-भार उठाते हैं, क्योंकि वे देखते हैं कि जो लोग समर्थ हैं उनकी प्रवृत्ति इधर है ही नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि अपने निष्काम-व्रत के कारण उनको अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। विषय की अनभिज्ञता को दूर करने के लिए उन्हें पहले कई ग्रन्थों का पारायण करना पड़ता है, तब कहीं वे हिंदी-भाषा-भाषियों के लिए उस विषय का ज्ञान सुलभ कर सकते हैं। ऐसे लेखकों को सबसे बड़ा दुःख यह देख कर होता है कि उनके पहले जिन लोगों ने उसी विषय पर पुस्तक लिखने का प्रयास किया उनकी रचनायें हिन्दी-साहित्य का अभाव नहीं दूर कर सकीं। तो भी उनको सन्तोष यह है कि उनकी कृति से हिन्दी का रिक्त भाण्डार पूर्ण तो होगा।

मैं मौलिक ग्रन्थ लिखने की चेष्टा करनेवाले लेखकों का विरोधी नहीं हूँ। मेरा विश्वास है कि साहित्य की उन्नति के लिए जो कुछ भी किया जाता है वह व्यर्थ नहीं है। हिन्दी के जो प्रतिभाशाली लेखक हैं उनकी मौलिक रचनाओं का हमें गर्व है। पर मौलिकता का दावा करने से ही सभी ग्रन्थ मौलिक नहीं हो जाते। और न मौलिक होने से ही ग्रन्थ साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। यही कारण है कि मौलिक-काव्य नाटक या उपन्यास के प्रकाशन से मुझे जितना हर्ष होता है उतना ही श्रेष्ठ ग्रन्थ के अनुवाद से होता है। हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी ने दो श्रेष्ठ उपन्यासों का अनुवाद प्रकाशित किया है। एक का नाम है 'चरित्रहीन' और दूसरे का 'रागिणी' इन्हें पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई पर एक बात देखकर मुझे अवश्य दुःख हुआ। वह यह है कि एक मराठी उपन्यास का अनुवाद होने पर भी मैंने 'रागिणी' में एक भी पात्रको मरहठे के रूप में नहीं देखा। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हिंदी के अधिकांश अनुवादों की प्रथा का अनुसरण कर 'रागिणी' के अनुवादक महोदय ने भी पात्रों के नाम बदल दिये। यदि मेरी यह सम्भावना सच है तो मैं अनुवादक के इस कार्य का समर्थन नहीं कर

सकता। उपन्यासों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि उनमें हम समाज का जीवित-चित्र देख सकते हैं। जब तक हमें महाराष्ट्र-जीवन का ज्ञान नहीं है तब तक उससे हमारी अधिक सहानुभूति भी नहीं हो सकती। वर्तमान-राष्ट्रीय-युग में तो इस बात की विशेष आवश्यकता है कि हम भारतवर्ष की सभी जातिओं से परिचित हो जांय। यह काम उपन्यासों से क्यों न लिया जाय ? जिन लोगों की यह धारणा है कि विजातीय समाज का चित्र देने से उपन्यास कम मनोरञ्जक हो जायगा उन्हें अब अपनी यह धारणा दूर कर देनी चाहिए। 'विक्टर ह्यूगो' और 'अनाटोल' फ्रांस के उपन्यासों के भी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। जिन लोगों ने उन्हें पढ़ा होगा, उनकी यही राय होगी कि फ्रांस का चित्र देने से उपन्यास मनोरञ्जक हुआ है। यदि उस ग्रन्थ के अनुवादक चाहते तो वे भी उसे भारतीय जामा पहना सकते थे। परन्तु ऐसा करने से ग्रन्थ का महत्व नष्ट हो जाता। 'चरित्रहीन' में बंगाल का सामाजिक जीवन अङ्कित है। यदि उसके भी अनुवादक उसको बदल देते तो क्या उस ग्रन्थ का उससे महत्व बढ़ जाता ? मैं तो उपन्यासों और आख्यायिकाओं के अनुवाद को इसलिए अच्छा समझता हूँ कि उनसे सार्वजनीन भावों का प्रचार होता है और विभिन्न समाजों और विभिन्न स्थितियों में हम मानव-जीवन का विकास देख पाते हैं।

कल्पना-प्रसूत साहित्य की सफलता लोक-रुचि पर निर्भर रहती है। लोक-रुचि अनुवादों के द्वारा विशेष परिष्कृत होती है। हिंदी की वर्तमान कविताओं और आख्यायिकाओं में हम जो नवीनता देख रहे हैं उसका सबसे बड़ा कारण है बंगला-साहित्य के ग्रन्थकारों के अनुवाद। हिंदी के वर्तमान कवियों की मौलिकता पर मैं सन्देह नहीं करता पर इसमें सन्देह नहीं कि उनके कविता-स्रोत का उद्गम स्थान दूसरे ही देश हैं। कविता, नाटक या उपन्यास ऐसी रचनायें हैं जिनकी उत्तमता के सम्बन्ध में स्वयं लेखक को किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। इसीलिए मिथ्याभिमान का बड़ा प्रसार होता है। आज-

कल हिन्दी साहित्य में इतने रवीन्द्र और शरत् हो गये हैं कि उनकी रचनाओं के पाठक तो नहीं हैं, पर समालोचक अवश्य हैं। मुझे हर्ष है कि तुम हार्डी न बनकर हार्डी का अनुवादक बनना चाहते हो।

(४)

सत्य,

तुम्हारे स्कूल में 'सीता' के सफलता-पूर्वक अभिनय होने की बात सुनकर मुझे सचमुच प्रसन्नता हुई है।

हिन्दी में अच्छे नाटक कम हैं उनके खेलनेवाले भी अधिक नहीं हैं। उनमें योग्यता भी कम होती है। इसीलिए नाटकों की आलोचना में समालोचक अभिनय पर ध्यान नहीं देते। अंगेज़ी पत्रों में नाटकों के अभिनय पर विशेषज्ञों के लेख निकलते रहते हैं। वहाँ नाटकों की सफलता रङ्गभूमि में ही देखी जाती है।

नाटकों की सफलता के लिए अच्छे नाटककार की ज़रूरत है, और अच्छे नटों की भी। बुरे नट अच्छे नाटकों को भी बुरा बना देते हैं। परन्तु अच्छे नट बुरे नाटक को अच्छा नहीं बना सकते। नाटक के अच्छा होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके पद्य कवित्वपूर्ण हों, कितनों ही, नाटकों में कोरी तुकबन्दी की भरमार होने पर भी उसका अभिनय सफलता पूर्वक किया जा चुका है। इसके विपरीत टेनीसन और ब्राउनिंग के कवित्वपूर्ण नाटकों को इंगलैण्ड के सर्वश्रेष्ठ नट भी सफलता से नहीं खेल सके। हिन्दी में कई नाटक लिखे गये हैं। एक विद्वान को यह सम्मति है कि वे नाटक नहीं कहे जा सकते, उनमें अभिनय के योग्य एक भी गुण नहीं है। किसी किसी को पढ़ कर उक्त महोदय को तो यह सन्देह हुआ था कि उसके लेखक ने कोई नाटक देखा भी है या नहीं। देखते तो जान पाते कि अभिनय के योग्य नाटक कैसे लिखे जाते हैं।

मुझे न नाट्य-शास्त्र का ज्ञान है और न नाट्य-कला का। अँग्रेज़ी के कुछ ऐसे नाटक मैंने पढ़े अवश्य हैं जिनका अभिनय विद्वानों की राय

में सफलता पूर्वक किया जा सका है। अतएव मैंने सोचा कि हिन्दी के इन नाटकों में ऐसी कौन सी बात है जिसका अभिनय नहीं किया जा सकता। पहिली बात दृश्यों की है। क्या इनके दृश्य ऐसे अस्वाभाविक हैं कि उनका प्रदर्शन ही न हो सके? आज कल रङ्गभूमि पर सभी तरह के दृष्य दिखलाये जा सकते हैं। रङ्गभूमि पर मनुष्यों का वध होता है, सती दाह का दृश्य दिखलाया जाता है, सर्प, हाथी, घोड़े आदि दिखलाये जाते हैं। पहाड़, नदी, झरने भी ज्यों के त्यों बतलाये जाते हैं मेरी तो यह धारणा है कि लेखक ऐसे किसी दृश्य की कल्पना नहीं कर सकता जो रङ्गभूमि में भी न दिखाया जा सके। जमीन फटती है और उसमें से आदमी निकलता है। तालाब है, उसमें कमल खिले हुए हैं, एक कमल फटता है और उसमें से श्री कृष्ण निकलते हैं। इंगलैण्ड के स्टेज-मैनेजर तो स्वाभाविकता लाने के लिए प्राकृतिक वस्तुओं और जन्तुओं तक का प्रबन्ध करते हैं। मैंने हिन्दी के नाटकों में ऐसा कोई दृश्य नहीं पाया जिसके लिए रङ्गभूमि में प्रबन्ध न किया जा सके। अब रहा पात्रों की बात चीत और कथा-भाग, यह कहा जा सकता है कि एक-एक पात्र की बात चीत में इतना समय लग जाता है कि दर्शक ऊब जाते हैं। अँग्रेज़ी में बर्नार्डशा के नाटकों की बड़ी तारीफ़ है। दर्शक उन्हें देखने के लिये टूट पड़ते हैं और न पात्रों की बात चीत का तांता ही बन्द होता है। घटना कम और बात चीत अधिक रहती है। कथा-भाग के विषय में तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संग्राम के समान दो एक नाटकों का कथा-भाग ऐसा नीरस नहीं है। कभी-कभी घरेलू दृश्यों को दिखलाना भी कठिन हो जाता है परंतु रवीन्द्रबाबू के 'डाकघर' का अभिनय सफलता से किया जा चुका है। उससे अधिक घटना- शून्य सरस दैनिक जीवन का चित्र किसी दूसरे नाटक में कम मिलता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अभिनय सफल नहीं हो सकता, मेरी समझ में रङ्गभूमि में नाटक की सफलता लोक-रुचि पर निर्भर है। जहाँ लोग ऊटपटाङ्ग

तमाशा देखने से ही आनन्द पाते हैं वहाँ किसी भी अच्छे नाटक का अभिनय सफल नहीं हो सकता। कहा जाता है कि युद्ध के समय इङ्गलैण्ड में बर्नार्डशा के नाटक भी दर्शकों का चित्त नहीं खींच सके। यदि हम चाहते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक हों और उनका अभिनय अच्छा हो तो हमें लोक-रुचि को परिष्कृत करना होगा। जब दर्शक शिक्षित होंगे नट शिक्षित होंगे, तब हीन श्रेणी का नाटक लिखने का कोई साहस नहीं करेगा। जब तक साधारण जनता में शिक्षा का अभाव है तब तक नाटक-मण्डली भी ऐसे ही भद्दे खेल खेलेगी जिनसे उनके दर्शकों का मनोरञ्जन हो।

(५)

सत्य,

आजकल हिन्दी में कविताओं का संग्रह खूब प्रकाशित किया जा रहा है। 'माला' और 'अञ्जील' से हिंदी-साहित्य-प्रेमियों की बड़ी बड़ी आलमारियाँ भर जायंगी। इस संग्रह-प्रकाशन का क्या कारण है? मेरी समझ में इसका कारण यह है कि हिंदी में जैसे कवियों की संख्या बेतरह बढ़ रही है, वैसे ही समालोचकों की भी खूब वृद्धि हो रही है। कवियों को डर है कि कहीं उनकी कविताएँ मासिक-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों में ही पड़े-पड़े सड़ न जायँ। इसलिए वे स्वयं चाहते हैं कि उनकी रचनाएँ किसी 'अञ्जील' अथवा 'माला' में गुम्फित रहें। उनका यह भय निर्मूल नहीं। उनके संग्रह-ग्रंथों को पढ़ कर मेरी यही धारणा हो गई है। यह तो कवियों की बात हुई। समालोचक भी संग्रह प्रकाशित करने के लिए व्यग्र रहते हैं। वे चाहते हैं कि इधर उधर से कुछ कवितायें उठा कर रख दें। इसमें परिश्रम तो है नहीं। पलग्रेन नामक समालोचक की तरह हमारा भी नाम हो जायगा और भी कविताओं के कद्रदां समझे जायंगे। प्रकाशक भी किसी टेक्स्ट-बुक कमेटी की सिफारिश की आशा से इन संग्रहों को धड़ल्ले से प्रकाशित कर रहे हैं। कविताओं का संग्रह करना सहज नहीं। काव्य-सागर का

मन्थन करके अमृत निकाल लेने के लिए बड़ा परिश्रम चाहिये। यह भी समझ रखना चाहिए कि सागर में अमृत ही नहीं निकलता, बिष भी निकलता है। अतएव संग्रहकार को यह चाहिये कि वह विष-पान करके सुधा संसार को दे डाले। हमारे हिंदी के संग्रहकार सुधा-पान करते हैं कि नहीं यह तो हम नहीं जानते, पर वे विष पान कर डालते हैं। नमूने के लिए किसी कवि की कुछ कविताओं को भी संग्रह कर देने से ही जरूरी कवित्व-शक्ति प्रकट नहीं होती है। इससे तो हमारी समानता ही सिद्ध होगी। उदाहरण से सिद्ध हो जायगा। सबसे अच्छी नाक तोते की कही जाती है, सुन्दर आंख की तुलना मृग से दी जाती है। जङ्घाओं के लिए केले अथवा सूंड़ की उपमा दी जाती है। इसी तरह हर सुन्दर अङ्ग के लिए एक न एक उदाहरण दिये जाते हैं। यदि सुन्दरी नारी देखने की इच्छा करने वाला इन्हीं वस्तुओं को एकत्र करे तो एक ऐसी भयावनी मूर्ति हो जावेगी कि लोग देखते ही डर जावेंगे। यही हाल कविताओं के संग्रह का है। हिन्दी के सामाजिक पत्रों में जितनी कवितायें निकलती हैं उनमें अधिकांश में शोभा तभी तक है जब तक वे उस पत्र में हैं। प्राचीन कवियों की कविताओं का भी यही हाल है। तुलसीदास की कविता कैसी है, यह कहने की जरूरत नहीं। परन्तु यदि हम उनकी कुछ रचनाओं को रामायण से अलग करके प्रकाशित कर दें तो उनका गौरव नष्ट हो जाय। हमारे संग्रह को पढ़कर तुलसीदास से अनभिज्ञ पुरुष यह कदापि कहने के लिये तैयार न होगा कि तुलसीदास संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं। अँग्रेजी मे एक ग्रन्थ का नाम है Beauties of Shakespeare उसमें शेक्सपियर के नाटकों के अच्छे-अच्छे पद्य संग्रहीत हैं। पर उसको पढ़कर शेक्सपियर को कोई मान न दे सकेगा। Beauties of Shakespeare के संग्रहकार स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं। बात यह है कि सिर्फ भावों की समिष्टि का नाम कविता नहीं है। कविता में अन्य कई गुण भी होते हैं। एक बात कविता में

होती है जिसे Suggestiveness कहते हैं। इसका मतलब यह है कि शब्दों से विशेष अर्थ नहीं निकलता, पर हमारे हृदय में विशेष भाव उदित हो जाता है। इन पद्यों पर ध्यान दीजिए—

आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक पर्वत नियराई॥
तहं रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देख अतुल बल सींवा॥

इसमें कौन सा अलङ्कार है, कौन-सा रस है, कौन सी ऐसी सूक्ति है। कौन हिन्दी प्रेमी चाहेगा कि ये भुला दिये जांय। इनमें 'रघुराई' 'ऋष्यमूक' आदि रामचन्द्र जी के जीवन-चरित्र का स्मरण, बनवास कथा, उनकी पितृभक्ति, वियोग कथा आदि जितना है, उनका सब चित्र खिंच आता है। इनकी विशेषता किसी एक भाव के कारण नहीं, समस्त कथा के कारण है। इसलिए हम इन पद्यों की गणना कविता में करते हैं। यदि इन पद्यों का सम्बन्ध रामायण से न रहे तो उनका महत्व जाता रहे और ये कविता के आसन से नीचे गिर जांय। अँग्रेज़ी में गीत-काव्यों ही का संग्रह होता है। नाटक और महाकाव्यों के जिन जिन अंशों में इनके तत्व विदित होते हैं वे भी संग्रह में आ सकते हैं। उदाहरण के लिए 'मिल्टन' के 'पैराडाइज लास्ट' का प्रभात वर्णन अथवा सैटन का व्याख्यान—हिंदी में ऐसी कविताएँ कम हैं। प्राचीन कवि महाकाव्य, नाटक अथवा गाथा ही लिखना अधिक पसन्द करते थे। इसलिए उनके काव्यों से पद्य-संग्रह करते समय संग्रहकार में बड़ी विवेचना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि उसके सग्रह में उनके ऐसे पद्य आ जायं जो वहाँ उनकी कवित्व-शक्ति को घटानेवाले हों। हमें खेद है कि हिन्दी के सग्रहकार इसका बिलकुल नहीं ख्याल करते। यदि हिंदी के पाठक सूरदास और तुलसीदास की रचनाओं से पहले ही से परिचित न हों तो उनके अवतरणों को पढ़कर उनकी श्रद्धा ही नष्ट हो जाय। ऐसे ग्रन्थ बहुधा बालकों की पाठ्य पुस्तकों में रक्खे जाते हैं। इससे बड़ी हानि की सम्भावना है। हम चाहते हैं कि अच्छी योग्यता के समालोचक ही संग्रह का काम लें, जो सहृदय हों, कविता के मर्मज्ञ

हों और अनुभव शील हों। जिनमें इन गुणों का अभाव हो अनाधिकार चेष्टा न करें।

(६)

सत्य,

कल एक उर्दू-प्रेमी ने एक उर्दू-पद्य की बड़ी तारीफ की। कहा कि ग़ालिब ने भी उसे सर्वश्रेष्ठ समझा। वह पद्य यह है—"तुम मेरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा पास नहीं होता।" उन्होंने स्वयं ही ग़ालिब का एक पद्य पढ़ कर कहा कि मुझे यह पद्य सर्वोत्तम जँचता है। वह पद्य यह है—"उसके आते ही आ जाती है मुंह पर रौनक, वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।" उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम्हें हिन्दी का कौन सा पद्य खूब पसन्द है, किसे तुम सर्वोत्तम समझते हो। मैं यही प्रश्न तुमसे भी करना चाहता हूँ।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी रचना के विषय में यह कहना कि वह सर्वश्रेष्ठ है, सर्वांश में सच नहीं होता। किसी एक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना समालोचना के औचित्य के बाहर है। साहित्य अथवा कला में उत्तमता स्वयं सिद्ध नहीं है, किन्तु वह दूसरों पर अवलम्बित है। फिर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न रचनाओं की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अतएव यदि हम किसी रचना को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहें तो हमें उन सभी अवस्थाओं पर विचार करना पड़ेगा। तभी हमारा कथन सार्थक हो सकता है।

एक बार अंग्रेज़ी के एक प्रसिद्ध विद्वान से यह कहा गया कि आप अंग्रेज़ी साहित्य की सबसे उत्कृष्ट रचनाएँ चुन दीजिए। उन्होंने कुछ रचनाएँ तो चुनी अवश्य, परन्तु आरम्भ में उन्होंने वायबिल का यह वाक्य उद्धृत किया।

"There is one glory of the sun, and another glory of the Moon, and another glory for the star, for one star differth from another star in glory."

अर्थात सूर्य की कान्ति एक प्रकार की है और चन्द्रमा तथा तारों की दूसरे प्रकार की। एक तारे का प्रकाश दूसरे तारे के प्रकाश से भिन्न है। तुलना समता में की जाती है भिन्नता में नहीं। इसलिए कितने ही विद्वानों ने कवियों को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त करना भी बुरा कहा है। मार्लेने वर्ड्स्वर्थ के सम्बन्ध में लिखा था कि हम वर्ड्स्वर्थ के समान बड़े कवियों को किसी भी श्रेणी में रखना अनुचित समझते हैं। यही बात सभी देशों के कवियों और विद्वानों के भी सम्बन्ध में कही जा सकती है। किसकी रचना किससे अच्छी है, यह श्रेष्ठ लेखकों के विषय में नहीं निश्चित किया जा सकता।

किसी को सर्वश्रेष्ठ कहना औचित्य की सीमा के बाहर भले ही हो, किन्तु सभी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी न किसी को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। जब कोई किसी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है तब वह मानो अपनी सम्मति की परीक्षा के लिए सब को आह्वान करता है। इससे चित्त उसकी ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है। जब हम किसी की विवेचना-पूर्ण आलोचना पढ़ते हैं तब कदाचित उसकी परीक्षा के लिए हमें उत्सुकता नहीं होती। परन्तु जब कहीं यह बताया जाता है कि अमुक कवि का अमुक पद्य संसार में सर्वश्रेष्ठ है तब पाठकों के कान खड़े हो जाते हैं। यदि वे उस रचना से अवगत हैं तो उसे एक बार फिर ध्यान-पूर्वक देखेंगे और यदि वह उनकी पढ़ी हुई है तो उसे पढ़ने के लिए उन्हें उत्सुकता अवश्य होगी। अँग्रेज़ी में स्विनबर्न की समालोचनाओं की यही विशेषता है। चाहे हम समालोचक की राय मानें या न मानें, परन्तु जब वह किसी कवि के किसी विशेष पद्य को सर्वश्रेष्ठ बतलावेगा तब उसकी ओर हमारा चित्त अवश्य आकृष्ट होगा। जो लोग आदरणीय हैं उनका यह कथन विशेष महत्व का होता है, क्योंकि लोक-रुचि सदैव विद्वानों की रुचि का अनुसरण करती है।

कुछ समय पहले अँग्रेज़ी में साहित्य-शास्त्र के विद्वानों से यह प्रश्न पूछा गया था कि उनकी राय में अँग्रेज़ी की सब से अधिक महत्व-

पूर्ण लाइन कौन सी है। ग्लैडस्टन ने तीन वाक्य चुके थे। पर वे निश्चित न कर सके कि उन तीनों में कौन सब से अच्छा था। उनमें एक वाक्य था—Or hear old briton blow his wreathed horn.

प्रसिद्ध कवि टेनिसन की राय में वर्ड्स्वर्थ की निम्नलिखित लाइन सब से अच्छी है।

Whose dwelling is the light of the setting sun. लार्ड मार्ले कहा करते थे कि शेक्सपियर के मैकबेथ में यह लाइन सब से अच्छी है। After life's fitful fever he sleeps well.

हमारे देश के भी विद्वान इस प्रकार की सम्मति देने का लोभ सम्बरण नहीं कर सके। संस्कृत में यह प्रसिद्ध है कि नाटकों में अभि-ज्ञान-शकुन्तला सर्वश्रेष्ठ है। उसमें भी चतुर्थ अङ्क सब से अच्छा है और उसके भी चार श्लोक सबसे अच्छे हैं। संस्कृत में कालिदास अपने एक श्लोक की उत्तमता के कारण दीपशिखा कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। वह श्लोक यह है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिम्बरा सा।
नरेन्द्र—मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्ण भावं स स भूमिपालः।

इसी प्रकार संस्कृत के दूसरे कवियों के विषयों में कई श्लोक हैं। इन सब बातों के लिखने से मेरा मतलब यही है कि अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसी पद्य को सर्वोत्तम बतलाना सर्वथा अनुचित नहीं है। मुझे तो तुलसीदास का यह पद्य सबसे अच्छा लगता है—

लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हीं पलक कपाट सयानी॥

प्रेम की मुग्धावस्था का ऐसा पवित्र और सुन्दर चित्र मैंने तो अन्यत्र नहीं पढ़ा है। तुम्हारी क्या राय है।

(७)

सत्य,

हिंदी में अभी तक भाषा के विषय में साहित्य-मर्मज्ञों के विचित्र विचार हैं। आज-कल ब्रजभाषा की ओर कवियों का कुछ अनुराग कम

हो गया है। अधिकांश कवि बोल-चाल की ही भाषा में कविता लिखना पसन्द करते है। कुछ लोग यह कहते हैं कि ब्रजभाषा की ऐसी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। उनकी यह भी राय है कि खड़ी बोली की कविताएँ नीरस होती हैं परन्तु सरसता का ठेका न ब्रजभाषा ने लिया है और न खड़ी बोली ही ने। यदि आजकल की रचनाओ में कवित्व गुण का अभाव है तो ब्रजभाषा के उपयोग-मात्र से हिंदी में सूर और बिहारी पैदा नही होने लगेंगे। सभी समय श्रेष्ठ कवि उत्पन्न नही होते और न सभी समय महाकाव्य लिखें जा सकते हैं। सभी देशों का यही हाल है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा चाहते है कि हिंदी में जितनी कविताएँ निकलें उन सब में रस का स्त्रोत ही बहे। परन्तु रस सिद्ध कवीश्वर टके सेर नहीं बिकते। अन्य विद्वानों का कथन है कि जब उर्दू में सत्कवियों का अभाव नही है तब हिन्दी में कविता का दुर्भिक्ष कैसे आ गया ? परन्तु यदि हम हिन्दी के इतिहास की ओर ध्यान दें तो हमारी समझ में इसका कारण आ जाय। जब तक किसी साहित्य की गति अवरुद्ध नहीं हुई है तब तक वहां सत्काव्य की रचना के लिये उपयुक्त क्षेत्र बराबर तैयार होता रहता है। परन्तु हिन्दी मे काव्य शास्त्र की मीमांसा में ही कवि निरत रहे। नये-नये भावों की सृष्टि तो बिलकुल ही बन्द हो गई। जिन धार्मिक भावों की प्रेरणा से मध्य युग में श्रेष्ठ काव्यों की रचना हुई थी वे भाव भी कृत्रिम-आचार-व्यवहार की जटिलता में लुप्त हो गये। हिन्दी के क़वियों के लिये नख-सिख वर्णन अथवा नायिका भेद को छोड़कर दूसरा विषय नहीं था। अब कुछ समय से वर्तमान युग के भावों की कविताएँ लिखी जाने लगी हैं। ये रचनायें अभी नीरस भले ही हों, पर इनसे साहित्य में नवीनता आ गई है। अगर हिन्दी-साहित्य की गति इसी तरह अग्रसर होती रही तो हमें विश्वास है कि हिन्दी में भी अच्छे कवि होने लगेंगे।

अपनी इस प्रारम्भिक अवस्था में भी हिन्दी साहित्य गुप्त जी और उपाध्याय जी की रचनाओं का गर्व कर सकता है। पण्डित जगन्नाथ

प्रसाद चतुर्वेदी की राय कुछ दूसरी है। आप बोल चाल की कविताओं के विरोधी ही नहीं है, परन्तु आपका विश्वास है कि गद्य-पद्य की भाषा एक नहीं हो सकती। अर्थात् यदि गद्य बोल चाल की भाषा में लिखी जाय तो पद्य के लिए एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जाय जो बोल चाल में प्रयुक्त न हो। आपने यहाँ तक कह डाला कि वर्ड्स्वर्थ ने गद्य-पद्य को एक करने की चेष्टा की और उनकी चेष्टा निष्फल हुई। आपके कथन से सूचित होता है कि अंग्रेजी में वर्ड्स्वर्थ को छोड़ कर शेक्सपियर, मिल्टन, ब्राउनिङ्ग आदि कवियों ने जिस भाषा में कविता लिखी है वह या तो ब्रजभाषा के समान कोई प्रान्तीय बोली होगी अथवा कोई ऐसी बोली जो गद्य में प्रयुक्त नहीं होती। अँग्रेज़ी में यह गद्य-पद्य का झमेला नहीं है। तो भी हम मान लेते हैं कि आप ही का कथन सत्य है। वर्ड्स्वर्थ को गद्य-पद्य की एक भाषा करते न बनी, वर्ड्स्वर्थ की भाषा बुरी ही सही। तो भी उनकी रचनाओं का आज तक आदर है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि भावमयी कविता किसी भाषा में लिखी जायगी तो उसका आदर अवश्य होगा। जब हम कहते हैं कि गद्य-पद्य की भाषा में भेद है तब उसका भेद शैली का है। गद्य की अपेक्षा पद्य की भाषा अधिक सरल होगी। वर्णनीय विषय में पद्य में कहीं कठोर शब्दों का प्रयोग होता है। इसके सिवा कविता की भाषा कवि की रुचि पर है। मिल्टन ने वर्ड्स्वर्थ की तरह नहीं लिखा है और न श्री हर्ष ने कालिदास की तरह। यदि हिन्दी के कुछ समालोचकों का वस चले तो इन कवियों से वे कैफियत माँगें कि तुमने सरल शब्दों को छोड़ कर कठिन शब्दों का प्रयोग क्यों किया है ? हिन्दी में जो कवि संस्कृत के समस्त शब्दों के प्रयोग करते हैं वे अपनी इच्छा से करते हैं। यदि उनकी कविताओं में कुछ गुण होंगे तो लोग उन्हें पढ़ेंगे और उन शब्दों का अर्थ ढूढ़ने की कोशिश भी करेंगे। यदि उनकी कविता सचमुच शब्द ज्ञान है, तो वह आप से आप नष्ट हो जायगी। किसी समालोचक की सिफ़ारिश की ज़रूरत

भी नहीं है। ऐसे तो कितने कवि उत्पन्न होते हैं और विस्मृत के अन्धकार में डूब जाते हैं। समालोचकों को उनके लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

कविता की भाषा के विषय में एक बात अवश्य ही विचारणीय है। वह यह है कि वर्णनीय विषय के अनुसार कविता की भाषा है या नहीं ? कहा जाता है कि कवित्व में ओज लाने के लिए कठोर शब्दों का उपयोग आवश्यक है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जिस कविता में कठोर शब्द हैं, वह ओजस्विनी ही है। अगर यही बात हो तो ओजस्विनी कविता लिखना बहुत सरल हो जाय। किसी कोष से कर्ण-कटु शब्दों को ढूँढ़ ढूँढ़ कर कोई भी अपनी रचना में एकत्र कर सकता है। तो क्या उसकी रचना ओजस्विनी हो जायगी ? बाबू मैथिली शरण गुप्त ने भूषण की रचना के बारे में एक बार लिखा था कि कान कोचनेवाले शब्दों से वीर रस नहीं आता। चतुर्वेदी जी ने कहा है कि वीर रस में कर्ण कटु शब्द नहीं रहेंगे तो क्या कोमल-कान्त पदावली रहेगी ? यदि कर्ण-कटुता ही वीर-रस का लक्षण है तो कवि को सिर्फ कर्ण-कटु शब्द ही लिख डालना चाहिये। कठोरता की हद्द हो जायगी और आप के कथनानुसार वीर-रस का स्रोत फूट पड़ेगा। यह हम नहीं कहते कि भूषण की रचना में वीर-रस का सर्वथा अभाव है। परन्तु इतना तो अवश्य ही कहेंगे कि उनकी रचना में शब्दाडम्बर का भी अभाव नहीं है। भाव तभी सजीव होगा जब भाषा सजीव होगी। इसके लिए न तो कृत्रिम बन्धनों के द्वारा कवि के व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालनी चाहिये और न साहित्य के स्वाभाविक विकास में ? अब तो न कालिदास की भाषा कविता के उपयुक्त है, न चन्द और बिहारी की। समय ने अब ऐसा पलटा खाया है कि सूर और बिहारी का जमाना लौटने का नहीं। अब हमें समय ही के साथ चलना होगा। तुम क्या समझते हो ?

सत्य,

कवि होना बड़ा कठिन काम माना गया है। इसके लिये ईश्वर प्रदत्त शक्ति चाहिए। कहावत प्रसिद्ध है कि कवि बनाया नहीं जाता, वह जन्म लेकर आता है। तो भी अभ्यास से लोग कवित्वपूर्ण पद्यों की रचना कर सकते हैं। यह सच है कि ऐसी पद्य-रचना से कोई कवियों की पंक्ति में नहीं बैठ सकता। पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उसकी अच्छी क़द्र होती है इसलिए यह सर्वथा निरर्थक नहीं कही जा सकती। हिन्दी के पत्रों में जो कवितायें छपती हैं उनके विषय में हम राय देने का साहस नहीं कर सकते। पर अँग्रेज़ी पत्रों के विषय में हम यह कह सकते हैं कि वे ऐसी रचनाओं की क़द्र करते हैं जो चटपटी हों। वहां करुणरस की अपेक्षा हास्य-रस का आदर अधिक है। यह उचित भी है। भला यह बात कौन पसन्द करेगा कि हम पत्र तो उठावें, मन बहलाने के लिए पर पढ़ते ही रोने लगें। मैं स्वयं एक लेख पढ़कर कवि हो गया हूँ। मैं तुम्हें भी उसका मर्म बतला देना चाहता हूँ। सम्भव है इससे तुम्हारा भी कुछ उपकार हो सके। तुम भी कवि होकर ख्याति प्राप्ति कर लो। सुनते हैं कि कलकत्ते में किसी उदार-चेता सज्जन ने एक दूकान ही खोल दी है और घर बैठे लोग कवि बना दिये जाते हैं।

पाश्चात्य देशों में पत्र के सम्पादकों का यह एक नियम हो गया है कि ज्योंही किसी का कुछ नाम सुना, त्योंही वे उसके रहस्य जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्यों के सभी कृत्यों में कुछ न कुछ रहस्य छिपा रहता है। यदि हम यह रहस्य जान लें तो उससे पूरा लाभ उठा लें। यह जानने की मेरी बड़ी इच्छा है कि हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि किस तरह कविता-रचना करते हैं। उनकी कविता-कामिनी का निवास स्थान हृदय में है या मस्तिष्क में? वे भाव के उद्वेग से कविता लिखते हैं या मस्तिष्क की उत्तेजना से? अपनी रचना में कभी उन्हें अड़चन पड़ती है या नहीं? यदि किसी तरह की अड़चन होती है तो वे उसे किस तरह पार करते हैं? किन्तु

इन सब बातों के जानने का कोई उपाय नहीं। अतएव वर्तमान हिन्दी-कविता का रहस्योद्घाटन करना सम्भव नहीं। एक बार उसका आभास मुझे ज़रूर मिला था। हिन्दी के पत्रों में कवि नाम का एक चित्र प्रकाशित हुआ था। उसमें दिखलाया गया था कि सरोवर के किनारे बैठकर एक कवि कविता लिख रहा है। पर मैं नहीं कह सकता कि हिन्दी के सभी कवि उसका अनुकरण करते हैं। मैं तो कभी ऐसा नहीं करता। खैर, हिन्दी के कवि अपना कला-कौशल गुप्त रक्खें। यहाँ तुम्हें अपने ही कला-कौशल का रहस्य बतलाते हैं। किस तरह कविता लिखी जाती है? भला यह भी किसी तरह बतलाया जा सकता है? कवि तो ईश्वरीय शक्ति की प्रेरणा ही से भावोन्मेष में कविता की रचना करता है। यदि मुझमें भी ईश्वरीय शक्ति का कुछ अंश होता तो मैं भी ऐसी बातों को अपमानजनक समझता। पर बात यह है कि मुझमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा नहीं है। मैं तो तुक्कड़ हूँ। सच तो यह है कि मेरी कला बड़ी सरल है। मुझे आश्चर्य इसी बात का है कि सभी लोग कवि क्यों नहीं हो जाते? पद्य रचना से सबसे बड़ा लाभ यह है कि समय अच्छी तरह से कट जाता है। जहाँ तबियत घबराने लगी वहीं एक कोने में बैठकर कविता लिखने लगे। बस, समय कट गया। दूसरी बात यह है कि अपने मित्रों में प्रतिष्ठा-प्राप्त करने का सबसे सुगम उपाय यही है। और सामयिक पत्रों में सम्पादक की दया से, इससे अर्थ की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार यह पद्य-रचना चतुर्वर्ग प्राप्ति का साधन है। कवियों के लिए दो चीज़ों की बड़ी ज़रूरत है। एक तो फांउंटेनपेन और दूसरा कोरा काग़ज़।

जो अभी छोटे कवि हैं उन्हें चाहे एक आध चीज़ की और ज़रूरत पड़े। उदाहरण के लिए कोष और मस्तिष्क। पर प्रायः ऐसा होता है कि कोरे काग़ज़ पर दीर्घ काल तक दृष्टि जमाये रहने से कविता के रूप में कुछ न कुछ प्रकट हो जाता है। क़ाग़ज और कलम के बाद कवि को एकान्त स्थान चाहिए। मात्रा और छन्द का ज्ञान होना चाहिये

और मस्तिष्क में शब्दों का भाण्डार होना चाहिए, जिससे बार-बार कोष देखने की ज़रूरत न पड़े। इसके साथ उसमें अदम्य उत्साह चाहिए। कवियों को तरह-तरह की अड़चनों का सामना करना पड़ता है। उनसे घबरा कर कविता करना छोड़ नहीं देना चाहिए।

सब से पहले कवियों को यही सोचना पड़ता है कि क्या लिखूँ? अर्थ की सिद्धि तभी होती है जब सम्पादकों के बाज़ार में जिन विचारों की क़द्र नहीं होती उन्हें दूर करने की शक्ति हो। कवि सिर्फ उन्हीं विचारों को पद्य-बद्ध करे जिनकी विक्री होती है। कभी-कभी मस्तिष्क में बिजली की तरह कोई विलक्षण विचार उपज पड़ता है। पर ज्योंही उसे काग़ज़ में व्यक्त करो उसकी चमक जाती रहती है। कभी-कभी विचार इधर से आता है और उधर से निकल जाता है। विचार बड़े ही चपल होते हैं। मैं तो यह समझता हूँ कि इन मछलियों को फन्दा में फँसाना सहज नहीं है। एक बार मुझे एक कविता के अन्तिम दो चरण बनाने थे। मुझे एक विचार की ज़रूरत पड़ी। मैं फँदा लिये बैठा ताक रहा था। यह आया, आ गया, तुरन्त ही फँदे में फँसाना चाहा, इतने में किसी ने बाहर से दरवाज़े को खटखटाया, मछली भाग गई। मैंने विरक्त होकर दरवाजा खोल दिया। छोटे-छोटे कवियों को ऐसी ही बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसके लिए एकान्त स्थान की बड़ी ज़रूरत है।

छन्द और मात्रा के साथ ही शब्दों की गति का ज्ञान बड़ा आवश्यक है। कहानी प्रसिद्ध है, किसी ने एक जाट से कहा, जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट, जाट ने उत्तर दिया, 'तेरे सिर पर कोल्हू'। उस आदमी ने कहा,'भाई तुक तो नहीं मिला'। जाट ने कहा, 'न मिले मुझे क्या परवा है। पर कवि को इसकी परवा करनी पड़ती है।' लोग कहा करते हैं, बात अनोखी चाहिए, भाषा कैसी भी होवे। पर यह बात ठीक नहीं है। विचारों के लिए कोई कवि नहीं रुकता है। रुकता है तो भाषा के कारण। बात पहले गद्य-भाग में होती है, फिर यह पद्य-भाग

में हो जाती है, और तब उसका रूप दिव्य हो जाता है। 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' गद्य-भाग का है। और पद्य भाग में उसका रूप होता है 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः'। अच्छा अब एक उदाहरण लीजिए। गद्य भाग—"एक वृक्ष है, इसका नाम शाल है। देखो, यह कितना ऊँचा है। ज़मीन को फाड़ कर आकाश को छा रहा है। यहाँ चिड़ियाँ बसेरा करती हैं इसे देख कर आँखें ठंढी हो जाती हैं। इसके नीचे मुसाफिर ठहर कर विश्राम करते हैं। यह खूब मज़बूत झाड़ है। हवा इसे गिरा नहीं सकती। सुगन्धि हवा में फैल रही है। आओ इस झाड़ को प्रणाम करें।" यदि हम इसे किसी पत्र-सम्पादक के पास भेजें तो वह कूड़ा-कचरा समझ कर फेकँ देगा। पर जब हम इसे अपने मस्तिष्क के पद्य-भाग में भेजते हैं तब देखिये, इसका रूप दिव्य हो जाता है। जो पढ़ेगा वही मुग्ध हो जायगा। पद्य-भाग—

हे कलकण्ठ खगों के आश्रय, पोसकया प्रतिपाल प्रणाम,
भव भूतल को भेद गगन में उठने वाले शाल प्रणाम।
हरे भरे, आँखों को शीतल करने वाले तुम्हें प्रणाम।
छाया देकर पथिकों के श्रम हरने वाले तुम्हें प्रणाम।
अटल अचल, न किसी बाधा से, डरने वाले तुम्हें प्रणाम,
सुहृद सुमन, सौरभ समीर में भरने वाले तुम्हें प्रणाम।

यह एक उत्कृष्ट कविता है। कविता में जो जो गुण होने चाहिये वे सब इसमें हैं। इसमें माधुर्य है, भाषा सौष्ठव है और वह भाव है जो पाठकों को क्षण भर पृथ्वी से हटाकर ऊँचे ले जा सकता है। कविता का प्रधान गुण है—भाव और भाषा की सरलता। छोटे कवियों के लिए यह सबसे आवश्यक गुण है। आपको जो जो कहना हो साफ़ साफ़ कह दीजिये। भला लोग कोई क्षुद्र कवि का अर्थ समझने का प्रयास क्यों उठावेंगे। हाँ, किसी प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि का अर्थ न समझने पर सभी उसकी विलक्षणता पर मुग्ध हो जांयगे। भाषा की सरलता का एक बड़ा उदाहरण नीचे दिया जाता है—

प्यारी बहिन सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें खज़ाना।
है इस पर अधिकार तुम्हारे बेटे का मनमाना॥

यह तो सभी जानते हैं कि कवि अपनी कल्पना के बल से कविता का निर्माण करता है, वह प्रतिभा के ज़ोर से कविता लिखता है। पर यह बात शायद किसी को मालूम न हो कि अख़बारों से कल्पना की तीव्रता बहुत हो जाती है। मतलब यह है कि अख़बारों से कविता के लिए बहुत मसाला मिल जाता है। अँग्रेज़ी में एक कविता ख़ूब प्रसिद्ध है। उसका नाम है 'दि ब्यूरियल आफ सर जानमूर' उसकी रचना उल्फ़ नामक एक कवि ने की है। इसी कविता से उल्फ़ का नाम अँग्रेज़ी साहित्य में अक्षय हो गया। जब यह कविता पहले पहल प्रकाशित हुई तब कुछ लोगों ने समझा कि लार्ड बायरन ने उसकी रचना की है।

बायरन ने कहा—"भाई यह मेरी कविता नहीं है।" यदि यह मेरी कविता होती तो इसका मुझे बहुत गर्व होता। जिस कविता की इतनी तारीफ़ है उसका मूलाधार अख़बार का एक कतरन था। लाङ्गफेलो नामक कवि ने अख़बार के एक कतरन पर एक बड़ी सुन्दर कविता लिखी है। खोज करने से ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। मैं तुमको सलाह देता हूँ कि तुम अख़बारों से कविता के उपयुक्त मसाला का संग्रह किया करो। तब तुम्हारे पास विचारों की इतनी विशाल-राशि खड़ी हो जायगी कि तुम भी कहने लगोगे, "बादल से चले आते हैं मजमूँ मेरे आगे।"

हिन्दी के कवियों के लिए अलङ्कार का एक बड़ा झमेला है। नवीन छन्दों की अब क़ाफी संख्या हो गई है। पर अलङ्कार पुराने ही हैं, इसी से मेल नहीं खाता। प्राचीन काल के कवि प्राकृतिक दृश्य से अलंकारों की सृष्टि करते थे। अब नगरों की वृद्धि होने के कारण कवि प्रकृति का आश्रय नहीं ग्रहण कर सकते। उन्हें एक छोटी सी कविता में बैठकर, अनन्त प्रकृति को विशाल कल्पना द्वारा देखना पड़ता है। इससे मस्तिष्क पर बड़ा ज़ोर पड़ता है। पाश्चात्य सभ्यता की वृद्धि के कवि

अपनी कविता कामिनी के पैरों पर नूपुर के स्थान में बूट जकड़ देते हैं और कलाई में कङ्कण का स्थान रिस्टवाच के चमड़े के बन्द को दे डालते हैं। इससे कविता-कामिनी का रूप स्वाभाविक हो जाता है। उनका भाषा परिच्छेद भी अल्पातिअल्प हो रहा है। बङ्गाल में हरिप्रसाद शास्त्री ने इन चुटकी कविताओं पर एक बार बड़ा रोष दिखाया, पर मेरी समझ में वर्तमान कविता का यह स्वाभाविक रूप है। अब उदाहरण लीजिये। हमें एक आधुनिक वियोगिनी का वर्णन करना है। वियोग-व्यथा के वर्णन में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग करना चाहिए। इससे गम्भीरता आ जाती है। हम इसे यों कहेंगे—'नई भोली भाली वधू जिसमें सुहाग की लाली थी, अब ऐसी कुम्हलाई जैसी कैरवाली अथवा गुस्त-चन्द्र की उजियाली। यह मुर्छित पड़ी हुई है। बिलकुल चुप है, बोलती तक नहीं। हाय, हाय इस कुमुदिनी को जल से किसने भिन्न किया, किसने अपने तीक्ष्ण करों से छिन्न कर दिया। आँखें भर भरकर सखियाँ इसे जगा रही हैं। पर भयंकर खरतर, शोक है। चैतन्य मोह से बढ़ कर है।' यह तो गद्य-भाग हुआ। इसे अब पद्य भाग में ले जाकर देखिये कैसी अच्छी कविता बनकर निकलती है।

यह नई बहू भोली भाली।
  जिसमें सुहाग की थी लाली।
कुम्हलाई कि ज्यों कैरवाली।
  या गुस्तचन्द्र की उजियाली।
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई।
  यह कुमुदनी जल-भिन्न हुई।
भर भर कर भीत भरी अंखियां।
  करती थीं उसे सजग सखियां।
पर शोक भयङ्कर खरतर था।
  चैतन्य मोह से बढ़कर था।

तुम अपनी कल्पना के द्वारा कुर्सी-टेबिल से सज्जित एक गल्प को देखो।

बीचो बीच एक कोच पड़ा है। उस पर सुशिक्षिताचार्यका मौन पड़ी हुई है। आँखें वियोग के दुःख से बन्द हैं। इतनी कल्पना कर लेने के बाद तुम उपर्युक्त पद्यों को पढ़ो। इसका विपर्यय अवश्य हो जायगा। करुण-रस हास्य रस हो जायगा, और हास्य-रस करुण-रस में परिणित हो जायगा। यदि तुम हिन्दी के हास्य-रस का आचार्य होना चाहते हो तो तुम्हारे लिए यह एक अच्छी कुञ्जी है। बस, बुद्धिमानों के लिए इतना इशारा काफी है।

सत्य,

आजकल सभी लोग कवितायें लिखा करते हैं। इसलिए यदि तुमने भी कुछ कवितायें लिखीं तो यह कोई अचरज की बात नहीं है। अचरज की बात यह है कि तुम यह जानना चाहते हो कि वे कवितायें अच्छी हैं या बुरी। आज तक किसी भी कवि को अपनी रचना की उत्तमता के सम्बन्ध में सन्देह नहीं हुआ है। यही नहीं, दूसरों की रचनाओं में उन्हें असारता भी स्पष्ट दिखलाई पड़ी है। एक बार एक व्यक्ति ने ह्यूगो को कुछ कवितायें दिखलाने के लिए बार बार इच्छा प्रकट की और कहा कि वे कवितायें सचमुच उच्चकोटि की हैं। इस पर ह्यूगो ने कहा कि यदि वे सचमुच उच्चकोटि की हैं तो वे मेरी देखी हैं, क्योंकि वे मेरी ही रचनायें होंगी। और यदि वे मेरी रचनायें नहीं हैं तो वे उच्चकोटि की हो नहीं सकती हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि जब कोई कवि किसी अन्य कवि की कृति की प्रशंसा करता है तब वह स्वयं प्रशंसा पाने के लिए उत्सुक रहता है। कवि-सम्मेलनों में तो कविगण 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' को चरितार्थ करने के लिए एक दूसरे की प्रशंसा करते हैं। जो समालोचक है, कविता का परीक्षक है, वह स्वयं कवि नहीं है। अधिकांश कवितायें स्वान्तःसुखाय ही लिखी जाती हैं। कोई उन्हें सुने या न सुने, कवि इसकी परवा नहीं करता।
There is a delight in singing though none may hear. इसलिए यदि तुम कवितायें लिखते हो तो लिखो, वे अच्छी हैं या बुरी, इसका

निर्णय जिन्हें करना है वे करें। तुम्हें इससे कोई मतलब नहीं। इतनी बात अवश्य है कि वर्तमान कविता-साहित्य को पढ़ते-पढ़ते मेरी यह धारणा हो गई है कि कवियों के हृदय में सभी समय भावों की तरंगे नहीं उठा करतीं। कुछ कवितायें तो विचार आने या भाव उठने पर लिखी जाती है और कुछ शायद ऐसी भी होती हैं कि उन्हें लिख लेने के बाद कवियों के हृदय में कोई भाव उठता हो या कोई विचार आता हो।

कवियों के कला-कौशल पर विचार करने पर मेरे चित्त में एक बड़ा सन्देह होता है। वह यह कि संसार में कवियों का अभाव क्यों नहीं होता। स्मरणातीत काल से लेकर आजतक कवि उत्पन्न होते ही जाते हैं। कहा जाता है कि कवि बनाये नहीं जाते, वे पैदा होते हैं। वैज्ञानिक या इतिहासज्ञ होने के लिए तो परिश्रम करना पड़ता है। पर कवित्व-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है। मैं यह सोचता हूँ कि हिन्दी साहित्य पर ईश्वर की इतनी उदारता क्यों है। हमारे साहित्य-जगत् में वैज्ञानिक या इतिहासवेत्ता तो दुर्लभ हैं, सुलभ हैं कविगण जो जन्म से ही प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं। कविता के क्षेत्र में भगवान् का यह औदार्य हमारे ही देश में बद्ध है, यह बात नहीं है। पर दूसरे देशों में वैज्ञानिक भी हैं और हमारे देश में कवि ही जन्म लेते हैं। न जाने किस अनन्त भावराशि से कविता का उद्गम हुआ है कि उसका स्रोत सूखता ही नहीं। एक बार किसी विद्वान् ने कहा था कि भाई, अब कविता का ज़माना चला गया। यह विज्ञान का युग है। अब कल्पना के स्थान में सत्य की ही चर्चा होगी, कल्पित बातों से लोगों को आनन्द नहीं मिलेगा। पर हम लोग यह प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि विज्ञान की विलक्षण-उन्नति होने पर भी कविता का अभाव नहीं हुआ। यह बात सच है कि अब मिल्टन और शेक्सपीयर नहीं हैं। परन्तु उनके स्थान में ब्रीजेज़ और ईट्स तो हैं। हिन्दी में सूर और तुलसी नहीं है तो क्या हुआ, गुप्त जी और उपाध्याय जी तो हैं। इसका क्या कारण है? बड़े-बड़े

कवियों की श्रेष्ठ रचनायें विद्यमान हैं, तो भी मनुष्यों की काव्य-पिपासा शान्त क्यों नहीं होती? अनन्त काव्य-सागर से जो पिपासा शान्त न हो सकी वह छोटे छोटे कवियों की जलांजलि से कैसे मिट सकती है। तो भी लोग उसको ग्रहण करने के लिए सोत्कण्ठ रहते हैं। यही नहीं, गंगाजी की निर्मल धारा को छोड़कर छोटे छोटे गड़हों के पानी से ही प्यास बुझाने की चेष्टा हम करते हैं। तभी तो कवि-सम्मेलनों की धूम है। क्या कवि-सम्मेलनों में सूर, तुलसी, मतिराम, बिहारी आदि की रचनाओं से भी उत्तम रचनायें पढ़ी जाती हैं? यदि नहीं तो उनके लिए इतना आग्रह क्यों? जो साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ हैं वे कविता में रस और चमत्कार खोज लेते हैं। जिसमें उन्होंने इसका अभाव देखा उसको उन्होंने कविता की पंक्ति से बाहर किया। पर कवित्व-गुण से हीन पद्य-रचना अपढ़ लोगों के हृदय में क्यों स्थान पा लेती है? सड़क पर मजदूर और गवाँर जो पद्य गाते फिरते हैं उनमें न तो रस का परिपाक हुआ है और न अलङ्कार का चमत्कार ही है। तो भी उन्हीं से उनका हृदय टिक जाता है। वे उन्हीं में तल्लीन हो जाते हैं। कविता की सच्ची पहचान है कवि का अन्तःकरण। यदि कवि ने अपने अन्तःकरण में किसी सौन्दर्य का दर्शन किया है तो यह सम्भव नहीं कि उसकी रचना में उस सौन्दर्य का आभास न मिले। हमारा हृदय उसी रूप के लिए, उसी सौन्दर्य के लिए सदैव सतृष्ण रहता है। विश्व का यह सौन्दर्य अनन्त है। वह चिर-पुरातन और चिर-नवीन है। वाल्मीकि, कालिदास और सूरदास ने हमें जिस सौन्दर्य का दर्शन कराया है उसी को उपलब्ध कर हम सन्तुष्ट नहीं होते। यह रूप अनन्त है, इसीसे हमारी पिपासा भी अनन्त है।

सत्य,

हिन्दी का आधुनिक काव्य साहित्य नवयुवकों का साहित्य है। उसमें है स्फूर्ति, उद्दाम वासना और उच्छृङ्खलता, कहा जाता है कि साहित्य

समाज का प्रतिविम्ब होता है। यदि हम किसी युग के साहित्य पर दृष्टि डालें तो हमें तत्कालीन समाज की भावना ज्ञात हो जायगी, हम जान लेंगे कि उस समय समाज का चिन्ता-स्रोत किधर बह रहा था। उसी से हम यह भी पता लेंगे कि समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था अथवा अवनति की ओर जा रहा था, उसमें चैतन्य था या अवसाद, उसमें अदम्य उत्साह था या शिथिलता, उसमें कार्य करने की छमता जाग्रत थी या वह मोहावस्था में पड़ी हुई थी। उन्नतिशील समाज की आकांक्षायें सदैव ऊँची होती हैं। वह विघ्न और बाधाओं को अतिक्रमण करने के लिए उद्यत रहता है। उसकी ज्ञान-लिप्सा बढ़ी रहती है और वह सत्य के अनुसन्धान में लगा रहता है। उसकी आशा भविष्य में रहती है। परन्तु जब समाज की मानसिक शक्ति का ह्रास होने लगता है तब वह अपने अतीत गौरव को ही दृढ़ता से पकड़ना चाहता है। वह भविष्य की चिन्ता छोड़ कर वर्तमान से ही सन्तुष्ट रहता है। उसकी आकांक्षायें परिमित हो जाती हैं। वह अपने ज्ञान का भी विकास एक सङ्कुचित क्षेत्र में ही करना चाहता है। उस क्षेत्र के बाहर जाने का साहस उसे नहीं होता। समाज की यही दो अवस्थायें हैं, एक उसकी तरुणावस्था है और दूसरी उसकी वृद्धावस्था। वृद्धावस्था में समाज की दृष्टि अतीत में ही आबद्ध रहती है और तरुणावस्था में वह भविष्य की ओर देखता है। साहित्य में मर्यादा की रक्षा और प्राचीन परम्परा की अभिज्ञता वृद्धावथा का फल है। तरुणों का शस्त्र है उनकी आशा, उनका आदर्श, उनकी आकांक्षा और उनका उत्साह। वृद्ध सदैव प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देते हैं। वे कहते हैं, देखो इस पथ को आज तक किसी ने ग्रहण नहीं किया। अतएव यह दूषित पद्धति है। इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। परन्तु तरुण उनकी बात नहीं सुनते। फल न मिलने पर भी उनकी आशा भग्न नहीं होती, क्योंकि उनकी दृष्टि भविष्य की ओर लगी रहती है। इन्हीं दो अवस्थाओं में दो प्रकार के साहित्य की सृष्टि होती है। पहली अवस्था में

ज्ञान का विकास है दूसरी अवस्था में नवीन ज्ञान का प्रचार होता है। पहला साहित्य परीक्षा करता है, कविता के उद्यान में काट-छांट कर कला की एक सीमा निर्दिष्ट करता है। दूसरा साहित्य-सृष्टि करता है, वह काट-छांट से अलग होकर अपने लिए एक नया ही सांचा निर्मित करता है।

आधुनिक भारतीय साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पड़ा है उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। भारतीय साहित्य की वर्तमान रूप रेखा पाश्चात्य शैली के अनुकरण का फल है। प्रजातन्त्र और विज्ञान, इन दोनों का विकास योरप में हुआ है। स्वाधीनता और स्वदेश-प्रेम के भाव साहित्य में हमने पाश्चात्य साहित्य की शिक्षा के बाद ही व्यक्त किये हैं। परन्तु योरप में एक ओर जहाँ वस्तुवाद की प्रतिष्ठा हुई वहाँ दूसरी ओर रहस्यवाद का भी जन्म हुआ। आध्या-त्मिक जीवन के सम्बन्ध में विज्ञान को हार मान कर यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि बुद्धि केवल दृश्य जड़ जगत् के सम्बन्ध में ही कुछ सिद्धान्त स्थिर कर सकता है। यथार्थ जीवन पर इस दृश्य जगत् के अतिरिक्त भी एक अदृश्य जगत् है जो हम लोगों के लिए कहीं यथार्थ है और इस को समझने और समझाने की शक्ति उसमें बिलकुल ही नहीं है। हम अपने बाहर और भीतर अदृश्य शक्तियों का आभास पाते हैं पर उन्हें व्यक्त नहीं कर सकते। इनका सौन्दर्य हमें तन्मय कर डालता है, परन्तु उसका केवल रसास्वादन ही होता है। हम लोगों ने वर्तमान साहित्य में पाश्चात्य साहित्य का भावोन्माद लिया है और उसका रहस्यवाद भी। हिन्दी साहित्य के वर्तमान कवियों ने भावोन्माद में ही रहस्यवाद की झलक देख ली है। उनकी यह भावुकता न तो चिन्तन का फल और न अनुभूति का। वह है एक-मात्र नवीनता के प्रति उनकी स्वाभाविक तृष्णा का फल। उनका सौन्दर्य मोह, उनकी वेदना, उनकी वासना उनके हृदय की वस्तु नहीं है। हिन्दी में ब्रज-साहित्य के आदर्श के विरुद्ध जो शिक्षा और सुरुचि का निर्देशक साहित्य बनाया गया

उसमें रस का अभाव होने के कारण नवयुवकों ने रस की प्राप्ति के लिए कविता के कानन में यह अभिसार-यात्रा की है। परन्तु यह अवस्था क्षणिक है। मेरा विश्वास है कि शीघ्र ही यह अवस्था दूर हो जायगी और तब नवयुग का यथार्थ नव साहित्य निर्मित होगा। मैं यहाँ तुम्हारे लिए कुछ कवितायें लिख रहा हूँ जिनसे तुम्हें वर्तमान साहित्य की गति स्पष्ट हो जायगी। मुझे जो कवितायें खूब अच्छी लगी हैं उन्हीं को मैंने यहाँ लिखा है। मैं यह भी समझता हूँ कि इसमें नवयुग की नवभावनायें व्यक्त हुई हैं—

आँख-मिचौनी

अच्छी आँख-मिचौनी खेली।
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हे अकेली।
किसी शान्त एकान्त कुञ्ज में तुम जाकर सो जाओ।
भटकूं इधर उधर मैं, इसमें क्या रस है, बतलाओ।
यदि मैं छिपूँ और तुम खोजो अनायास ही पाओ।
कहाँ नहीं तुम जहां छिपूँ मैं ? जाने भी दो, आओ।
करें बैठ रँग-रेली।
अच्छी आंख-मिचौनी खेली।
पर जब तुम हो सभी कहीं तब मैं ही क्यों यों भटकूँ।
चाहूँ जिधर उधर ही अपनी दाईं तुम पर पटकूँ।
इसकी भी क्या आवश्यकता जो बाहर पर अटकूँ।
अन्तर के ही अन्धकार में क्यों न पीत-पट झटकूँ।
बन अपनी ही चेली।
अच्छी आंख-मिचौनी खेली।

विराट् वीणा

तुम्हारी वीणा है अनमोल,
हे विराट्, जिसके दो तूँ बे हैं भूगोल-खगोल।

दया दण्ड पर न्यारे न्यारे
गूँज रहे हैं प्यारे प्यारे
कोटि गुणों के तार तुम्हारे
खुली प्रलय की खोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल।
हँसता है कोई रोता है,
जिसका जैसा जी होता है,
सुध-बुध सब कोई खोता है,
क्या विचित्र हैं बोल!
तुम्हारी वीणा है अनमोल।
इसे बजाते हो तुम जब लों,
नाचेंगे हम सब भी तब लों,
चलने दो, न कहो कुछ—कबलों,
यह क्रीड़ा-कल्लोल
तुम्हारी वीणा है अनमोल।
—मैथिली शरण गुप्त

सुजीवन

हे जीवन स्वामी! तुम हमको।
जल के सदृश सुजीवन दो।
हमें सदा जल के समान ही।
स्वच्छ और निर्मल मन दो।
रहें सदा हम क्यों न अतल में,
किन्तु दूसरों के हित पल में,
आवें अचल फोड़कर स्थल में,
ऐसा शक्ति—पूर्ण तन दो।
हे जीवन-स्वामी, तुम हमको जल के सदृश सुजीवन दो।

स्थान न क्यों नीचे ही पावें,
पर तप में ऊपर चढ़ जावें।
गिर कर भी क्षिति को सरसावें,
ऐसा सत्साहस-धन दो।
हे जीवन-स्वामी, तुम हमको जल के सदृश सुजीवन दो।

गूढ़ाशय

स्वार्थ-सुमन देकर न हमें जब,
तुमने उसको फेंक दिया,
होकर क्रुद्ध हृदय अपना तब,
हमने तुम से हटा लिया।
सोचा मैं उपवन में जाकर,
सुमन इन्हें दिखलाऊँ लाकर;
मैंने जल्दी चित्त लगा कर,
कण्टक-वेष्टन पार किया।
स्वर्ण-सुमन देकर न हमें जब तुमने उसको फेंक दिया।
उपवन भर के श्रेष्ठ सुमन सब,
जाकर तोड़ लिये सहसा जब,
समझ तुम्हारा गूढ़ाशय तब,
हुआ निशेष कृतज्ञ हिया।
स्वर्ण-सुमन देकर न हमें जब तुमने उसको फेंक दिया।

—सियारामशरण गुप्त

प्रेम-विह्वल

प्राण-सखे! इस वृष्टि-निशा में
आज तुम्हारा है अभिसार;
आशा-हीन समान जगत यह
रुदन कर रहा बारंबार।

आंखों में हे बन्धु हमारे !
निद्रा आज नहीं आती।
पुनः पुनः हम देख रहे हैं
बाहर खोल खोल कर द्वार,
बाहर कुछ भी नहीं दीखता
अवलोकन करने पर भी;
आज तुम्हारा मार्ग कहाँ है,
आता है बस यही विचार।
दूर कहाँ किस नदी किनारे।
दूर कहाँ किस घन वन में,
प्रियतम ! किस गम्भीर तिमिर में
आज हो रहे हो तुम पार।

—सियारामशरण गुप्त

आज तक जाना नहीं

मन विकल बोला—मुझे अभिलाष है—
शान्तिमय सर्वेश रहता है जहाँ,
जा हृदय की वेदना कहता वहाँ;
पर न मिलता वह परम आवास है !
सुन पड़ा तत्काल—तेरे पास है;
तू निरर्थक भटकता फिरता कहाँ !
वह वहीं है तू रहा करता जहाँ;
विश्व ही उसका स्वरूप-विकाश है।
व्यापा उससे विश्वमय आराम है;
जड़ तथा चैतन्य का वह धाम है !
सामने है शोभता मोती पड़ा,
किन्तु तूने हाय ! पहचाना नहीं !

पास ही पीयूष का पूरा घड़ा
है अरे जड़ ! आज तक जाना नहीं।
—ज्योतिष चन्द्र घोष

ज्ञान और भक्ति

जहाँ नहीं कोई उछ्वास,
विमल निरन्तर नीलाकाश,
बनकर, नहीं अनन्त कहाऊँ, प्रभु के निकट न प्रभु बनजाऊँ।
हे मन ! छूटे भव-भय-बन्धन,
ऐसा गीत न गाओ !
मुझे मिले तू प्राणाधार,
यही एक जीवन का सार,
किन्तु ज्ञान की चाह नहीं है, वैभव की परवाह नहीं है।
मुझे न अपने पास बुलाओ,
निकट आप ही आओ !
मुक्ति सिर्फ़ है स्वार्थ-विधान,
उसमें नहीं विश्व-कल्याण,
इसी तुच्छता में रहने दो, भाव-पयोनिधि में बहने दो।
दया-निधान ! भक्त मनरंजन,
निज करुणा दरसाओ !
मुझे न दीजे निश्चल वास,
मुझे न कर तू नीलाकाश,
केवल छोटा मेघ बनाओ, इच्छा मारुत मध्व उड़ाओ,
सूखे खेत जहाँ जब देखो,
गरज गरज बरसाओ।
—नयन

कविते ! तेरा वास कहाँ ?

तू फूलों में फूल रही !

किन पलकों में झूल रही !
किस उपवन में भूल रही !
ऐसे सुमन सुवास कहाँ !
कविते ! तेरा वास कहाँ !
तू सावन की झड़ी ! नहीं ।
तू बूँदों की लड़ी ! नहीं ।
मणि-मुक्ता से जड़ी ! नहीं ।
इनमें वह रस-रास कहाँ ?
कविते तेरा वास कहाँ ?
मणियों की मालाओं में,
ललना-ललित-कलाओं में,
मुसकाती कलिकाओं में,
तेरा मृदु मधु हास कहाँ ?
कविते तेरा वास कहां ।
सरके ! लो परदे सरके ।
झांक, झांक, मन ! जी भरके ।
हृदय-भवन में कविवर के ।
ऐसा विमल विलास कहाँ ?
कविते तेरा वास कहाँ ?
वीणा-हिल कर क्या हिलते,
बिखर बिखर स्वर क्या मिलते,
भवन भवन मुखड़े खिलते,
ऐसा कुसुम-विकास कहाँ !
कविते ! तेरा वास कहाँ ?

बस, अभी इतना ही बहुत है—

तुम्हारा—हृषीकेश

समस्या

१—उपक्रम

कहा जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिविम्ब होता है। यदि हम किसी युग के साहित्य पर दृष्टि डालें तो हमें उसमें तत्कालीन समाज की भावना मिल जायगी। हम जान लेंगे कि उस समय समाज का चिन्ता-स्रोत किधर बह रहा था। उसीसे हम यह भी पता लगा लेंगे कि समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था अथवा अवनति की ओर जा रहा था। उन्नतिशील समाज की आकांक्षायें सदैव ऊँची होती हैं। वह विघ्न और वाधाओं को अतिक्रमण करने के लिए उद्यत रहता है। उसकी ज्ञान-लिप्सा बढ़ी रहती है और वह सत्य के अनुसन्धान में लगा रहता है। उसकी आशा भविष्य में रहती है। परन्तु जब समाज की मानसिक शक्ति का ह्रास होने लगता है तब वह अपने अतीत गौरव को ही दृढ़ता से पकड़ना चाहता है। वह भविष्य की चिन्ता छोड़ कर वर्तमान में ही सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी आकांक्षायें परिमित हो जाती हैं। एक संकुचित क्षेत्र में ही वह अपने ज्ञान का विकास देखना चाहता है। उस क्षेत्र के बाहर जाने का साहस उसे नहीं होता। समाज की यही दो अवस्थायें हैं, एक उसकी तरुणावस्था कही जा सकती है और दूसरी उसकी वृद्धावस्था। वृद्धावस्था में समाज की दृष्टि अतीत में ही आवद्ध रहती है और तरुणावस्था में वह भविष्य की ओर देखता है। मर्यादा की रक्षा और प्राचीन परम्परा की अभिज्ञता वृद्धावस्था का फल है। तरुणों का शास्त्र है उनकी आशा, उनका आदर्श, उनकी आकांक्षा और उनका उत्साह। वृद्ध सदैव प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देते हैं। वे यही कहते रहते हैं कि देखो, इस पथ को आज तक किसी ने ग्रहण नहीं किया। अतएव यह दूषित पद्धति है। इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। परन्तु तरुण उनकी बात नहीं सुनते। फल न मिलने पर भी उनकी आशा नहीं टूटती, क्योंकि उनकी दृष्टि भविष्य की ओर लगी रहती है। इन्हीं दो अवस्थाओं में दो प्रकार के साहित्य की सृष्टि होती

है। पहली अवस्था में, साहित्य में ज्ञान की पुनरावृत्ति होती है और दूसरी अवस्था में नवीन ज्ञान का प्रचार होता है। पहला साहित्य परीक्षा करता है और दूसरा सृष्टि करता है। एक को समाज पर अवलम्बित होना पड़ता है। और दूसरा समाज का विरोध करता है। वही साहित्य समाज के भविष्य पथ को निर्दिष्ट करता है। वही यथार्थ में अपने युग के विशेषत्व का द्योतक है। उसी में युग की उच्चतम आकांक्षा प्रकट होती है। वही उन आदर्शों की सृष्टि करता है जो समाज में प्रचलित होते हैं। आधुनिक युग में जो नवीन चिन्ता-स्रोत बह रहा है उसी की समीक्षा करने से हम आधुनिक युग का विशेषत्व जान सकेंगे।

भारतवर्ष चिरकाल से दासत्व की शृङ्खला में वद्ध पड़ा हुआ है। इससे भारतीयों के चित्त की स्वाधीनता बिलकुल नष्ट हो गई थी। मनुष्यों में उनका मनुष्यत्व चिरकाल तक छिपा नहीं रहता। सङ्घर्षण होते ही आग की तरह वह जल उठता है। यह उनका स्वाभाविक धर्म है। भारतवर्ष सोया हुआ था। संसार से अपने को पृथक् कर वह पृथ्वी के एक कोने में निष्चेष्ट पड़ा हुआ था। जीवन का विशाल-समुद्र उसके पद-तल पर हिलोरें ले रहा था। पर उसने अपने घर को चारों ओर से अच्छी तरह बन्द कर रक्खा था। इसलिए जीवन-समुद्र का गर्जन भी उसके कानों तक नहीं पहुँचता था। पर कब तक ऐसी दशा रहती? अन्त में एक ऐसी बड़ी लहर उठी कि उसने भारत की जीर्ण चौहद्दी को तोड़ डाला। भारत के घर के भीतर भी जीवन की लहरें उठने लगीं। भारतवर्ष में जीवन का यह प्रवाह बड़े वेग से बहने लगा है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पाश्चात्य देशों में विज्ञान-शास्त्र की बड़ी उन्नति हुई। वह वैज्ञानिक युग था। जीवन के सभी विषयों में विज्ञान की उपयोगिता प्रमाणित हो गई। अभी तक मनुष्य प्रकृति की वश्यता स्वीकार करता था, परन्तु अब उसने विज्ञान के द्वारा प्रकृति को पराभूत करने का प्रयत्न किया। इस का फल यह हुआ कि प्रकृति मनुष्य से दूर हट गई। मनुष्यों के जीवन में सरलता का स्थान जटि-

लता ने ले लिया। जिस विज्ञान के बल से मनुष्य प्रकृति पर जय पाने की आशा करता था वही उसका स्वामी बन बैठा। मनुष्य विज्ञान का दास हो गया।

इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान की उन्नति से योरप की भौतिक प्रभुता खूब बढ़ गई। उसने वाणिज्य-व्यापार में बड़ी तरक्की की। व्यवसाय की समृद्धि से सम्पत्ति की वृद्धि हुई और सम्पत्ति की वृद्धि से विलासिता बढ़ी। किसी ने कहा है कि अभावों की वृद्धि को सभ्यता कहते हैं। विलासिता के बढ़ने से मनुष्यों के अभावों की भी खूब वृद्धि हुई। इन सब की पूर्ति के लिए विज्ञान का सहारा लिया गया। इस प्रकार आधुनिक योरप की सभ्यता का सङ्गठन हुआ।

जब भारतवर्ष में पाश्चात्य विज्ञान के आलोक ने प्रवेश किया तब भारतवासी उसकी चमक-दमक देखकर चकित हो गये। उन्होंने समझा कि यही स्वर्गीय ज्योति है, इससे हमारा अज्ञानतम दूर होगा। उन्हें अपने वर्तमान स्थिति से असन्तोष हुआ। उन्होंने योरप को अपना आदर्श मान कर उसीके समान अपने सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक-जीवन की रचना करना चाहा। क्रमशः उसका प्रभाव बढ़ता गया। इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष के घर में अशान्ति फैल गई। बात यह है कि भारतवर्ष और योरप की सभ्यता में बड़ा भेद है। भारतवर्ष की सभ्यता की उत्पत्ति उसके शान्त तपोवन में हुई है। पाश्चात्य सभ्यता की सृष्टि उसके नगरों में हुई है। भारतवर्ष का मन चिरकाल तक विश्व प्रकृति के साथ घनिष्ठ रहने से ही गढ़ा गया है। परन्तु योरप ने प्रकृति के विरुद्ध अपने जीवन का सङ्गठन किया है। भारतवर्ष के लिए जगत् की जड़-चेतन-सृष्टि के साथ अपने को एकात्मभाव से मिला देना बिलकुल स्वभाव-सिद्ध है। परन्तु योरप प्रकृति की सृष्टि से अपने को पृथक् कर उस पर अपना प्रभुत्व आवश्यक समझता है। भारतवर्ष में ऋषि विश्व का दर्शन कर यही कहा करते थे कि जो देवता, अग्नि में, जल में, विश्व-भुवन में, प्रवृष्टि हो रहा है और

जो औषधियों में तथा वनस्पतियों में है उसे नमस्कार हो, नमस्कार हो। अब विश्व-दर्शन का क्या परिणाम होगा, यह एक कवि के निम्न-लिखित कथन से सूचित होता है कि यदि कोई चीन से पेरू तक समस्त संसार पर दृष्टिपात करे तो वह यही देखेगा कि मनुष्य अपने जीवन संग्राम में कितनी उत्कण्ठा से लगा हुआ है।

योरप के साथ मिलने के पहले भारतवर्ष अतीतकाल में ही रहा करता था। अतीत में ही वह भविष्य का सुख-स्वप्न देखा करता था। परन्तु योरप ने उसका सुख-स्वप्न भङ्ग कर उसे अतीत से वर्तमान में ला दिया। उस समय वह हृत-सर्वस्व मनुष्य के समान किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया है। इस समय वह स्वाधीनता के लिए उत्सुक हो गया है। परन्तु इसी के साथ यहाँ व्यक्ति और समाज, समाज और राष्ट्र, धर्म और आचार की कितनी ही समस्यायें उपस्थित हो गई हैं। आधुनिक साहित्य में इन्हीं का समाधान करने की चेष्टा की जाती है।

भारतीयों में स्वाधीनता के भाव जाग्रत होने का एक परिणाम यह हुआ है कि अब वे सर्वत्र पराधीनता की शृङ्खला को तोड़ देना चाहते हैं। स्वाधीनता का यह भाव केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही परिमित नहीं है। जो हमारे देश के नेता हैं, वे केवल विदेशियों का आधिपत्य ही दूर करना नहीं चाहते। वे यह भी चाहते हैं कि देश की उन्नति के मार्ग में, उसकी स्वाधीनता प्राप्ति की चेष्टा में, यदि किसी सम्प्रदाय या समाज का प्रभुत्व बाधक हो रहा है तो वह भी दूर कर दिया जाय। समाज और धर्म में जो उनकी स्वाधीनता का बाधक है वह अश्रेयस्कर है और इसलिए वे उसे भी निर्मूल कर देना चाहते हैं। सारांश, देश अब स्वाधीनता चाह रहा है, और कुछ नहीं। अच्छा, यह स्वाधीनता है क्या? प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपनी उन्नति करने का पूरा अधिकार है। यदि उसे यह अधिकार प्राप्त है तो वह स्वाधीन है। यदि वह अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी दूसरे से निर्दिष्ट-पथ पर चलने के लिए बाध्य किया जाता है तो वह स्वाधीन नहीं है। स्वाधीनता

में इच्छानुसार काम करने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु यथेच्छाचार स्वाधीनता नहीं है। हम इष्ट-सिद्धि के लिए जो पथ चाहें ग्रहण कर लें, पर दूसरों का अनिष्ट करने का तो हमें अधिकार नहीं है। यदि हमने अपनी उन्नति के लिए ऐसे उपायों का अवलम्बन किया जिनसे दूसरों की उन्नति का द्वार अवरुद्ध हो जाता है तो यह हमारी स्वाधीनता नहीं, यथेच्छाचार है। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह दूसरों का अनिष्ट करे। कोई भी स्वाधीन व्यक्ति अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए न तो देश का अहित कर सकता है, न समाज का, न अन्य व्यक्तियों का, यहाँ तक कि वह अपने पुत्र और स्त्री का भी अहित नहीं कर सकता। इसीसे व्यक्ति के यथेच्छाचार को रोकने के लिए देश, राष्ट्र या समाज के द्वारा कुछ नियम बनाये जाते हैं, उन नियमों का अनुसरण करना ही पड़ता है। तभी लोगों की स्वाधीनता अक्षुण्ण रह सकती है। व्यक्ति का समाज के साथ जो सम्बन्ध है, उसे दृढ़ करने के लिए समाज अपनी एक मर्यादा स्थिर करता है, उस मर्यादा का जो व्यक्ति उल्लंघन करेगा वह समाज के द्वारा दंड्य है। यही सामाजिक धर्म कहलाता है। व्यक्ति का देश और राष्ट्र से भी सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखने के लिए देश या राष्ट्र की ओर से व्यक्तियों के स्वाधीनता को एक सीमा निश्चित कर दी जाती है। वह सीमा भी अलङ्घ्य है, केवल व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए भी। कोई देश या राष्ट्र प्रबल होने पर दूसरे निर्बल राष्ट्रों पर अत्याचार कर सकता है। उस अत्याचार को रोकने के लिए अभी तक ऐसी कोई योजना नहीं हुई है जिससे निर्बल राष्ट्रों पर प्रबल राष्ट्रों का अत्याचार बन्द हो जाय। न्याय-प्रियता मनुष्य के स्वभाव में है। केवल वही राष्ट्र का नियन्त्रण करती है। बात यह है कि अकेला व्यक्ति स्वयम् कुछ नहीं कर सकता। समाज के रूप में सङ्गठित होने पर उनकी शक्ति बढ़ जाती है। राष्ट्र हो जाने पर तो उनकी यह शक्ति अदम्य हो जाती है। परन्तु मनुष्यों में न्याय, दया, सत्य आदि ऐसे

गुण हैं जिन पर मनुष्य-मात्र का अनुराग है। उन गुणों को तिरस्कार करने पर स्वयम् एक लांछना सहनी पड़ती है। जिसे हम धर्म कहते हैं वह इन्हीं गुणों का प्रचार करता है। धर्म का सिद्धान्त मनुष्य-मात्र के लिए है, चाहे वह किसी भी समाज, राष्ट्र या देश का हो। यही धर्म का यथार्थ स्वरूप है। यही उसकी यथार्थ महिमा है। वह जितना एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है, उतना ही एक समाज और एक देश के लिए भी आवश्यक है। उसी का अनुसरण कर कोई व्यक्ति अपनी यथार्थ उन्नति कर सकता है। धर्म के पथ पर रहने से ही किसी समाज या राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। परन्तु जो धर्म यथार्थ में श्रेयस्कर है उसका अनुशासन मानने के लिए कोई वाध्य नहीं! समाज की मर्य्यादा भङ्ग करने से उसे समाज का दण्ड भोगना पड़ता है। देश या राष्ट्र के विरुद्ध चलने से वह तुरन्त ही शासित होता है। परन्तु धर्म का अनुसरण करना उसकी इच्छा पर निर्भर है! धर्म-विरुद्ध चलकर भी लोग समाज और राष्ट्र के नियमों का पालन कर सकते हैं। यही कारण है कि सभी देशों और सभी समाजों में दुराचारों और दुर्नीति का अस्तित्व है। जो देश या राष्ट्र स्वाधीन हैं, जो सभ्यता के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, जो उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हैं, उनमें भी दुराचारों की वृद्धि हो रही है। परन्तु सच पूछिए तो क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र, सभी के अधःपतन का मुख्य कारण धर्म-च्युत होना है। अतएव चाहे राष्ट्रीय स्वाधीनता हो या सामाजिक स्वाधीनता, जब तक वह धर्म-विहीन है तब तक उससे कल्याण होने का नहीं है। त्याग और संयम, सत्य और न्याय, यही सच्ची स्वाधीनता के आधार हैं। इस आधार के बिना स्वाधीनता का ऐसा कोई भी मन्दिर निर्मित नहीं हो सकता जहाँ विलासिता और अनाचार का ताण्डव-नृत्य न हो। इसी से भारतवर्ष में स्वाधीनता के उपासकों को अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते समय धर्म का यथार्थ स्वरूप न भूल जाना चाहिए।

२—व्यक्ति-समस्या

भारतवर्ष में स्वातन्त्र्य का जो आन्दोलन हो रहा है उसको हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक का सम्बन्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता से है। उसका लक्ष्य है भारतवर्ष की स्वाधीन राष्ट्रीयता। दूसरे में हिन्दू-समाज के अन्तर्गत पराधीनता के प्रति विद्रोह है, जिसके कारण सभी लोगों को समाज में समान स्थान प्राप्त नहीं है। तीसरे का उद्देश्य हिन्दू-परिवार में स्त्रियों को पुरुषों के प्रभुत्व से मुक्त करना है। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वाधीनता, सामाजिक स्वाधीनता और पारिवारिक स्वाधीनता, यही आधुनिक भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या है। पहले पारिवारिक समस्या को लीजिए।

हिन्दी-साहित्य में ऐसे उपन्यासों और आख्यायिकाओं की वृद्धि हो रही है जिनमें हिन्दू-समाज के गार्हस्थ जीवन के कुत्सित चित्र दिये जाते हैं। उनमें स्त्रियों के अनाचार और पुरुषों के अत्याचार वर्णित होते हैं। उनसे यही प्रतीत होता है कि हिन्दू-समाज की बड़ी दुरवस्था है। हिन्दू-समाज में एक नहीं, अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं। इन दोषों के दूर करने से ही समाज का कल्याण हो सकता है। अतएव जो समाज के शुभचिन्तक हैं उनका यह कर्त्तव्य है कि समाज के दोषों की अच्छी तरह परीक्षा करें। कितने ही विद्वानों की राय है कि साहित्य में समाज के कुत्सित चित्र अङ्कित नहीं किये जाने चाहिए। परन्तु यह उनका भ्रम है। समाज का रोग दूर करने के लिए आँख मूँद लेने से काम नहीं चलेगा। जो घटनायें हमारे समाज में प्रति दिन हो रही हैं उनकी उपेक्षा करने से समाज में दुराचारों की वृद्धि ही होगी। यदि आदर्श चरित्रों की सृष्टि करने से समाज में दुराचार दूर हो जाते तो हिन्दू-साहित्य में आदर्श चरित्रों के विद्यमान होते हुए भी हिन्दू-समाज में अनाचारों की वृद्धि न होती। समाज की यथार्थ स्थिति जानने के

लिए हमें समाज की वीभत्स लीलाओं पर विचार करना ही होगा। परन्तु यह काम बड़े उत्तरदायित्व का है। केवल कल्पना के द्वारा समाज का विकृत चित्र खीच कर उसमें दोषों की उद्भावना करने से समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता।

जब कोई अपनी उद्दाम वासना के कारण उन्मत्त होकर असत् पथ पर जाता है तब हमें समझ लेना चाहिए कि यह उसकी विकृत अवस्था है, मानसिक रोग का प्रकोप है, और एक चिकित्सक की तरह हमें उस रोग का निदान जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जो लोग बाल-विवाह का दुष्परिणाम दिखाने के लिए एक हिन्दू युवती को विधवा बनाकर उससे घोर पाप करा डालते हैं उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस समाज में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं है और जहाँ विधवाओं का पुनर्विवाह होता है वहाँ भी दुराचारों का अभाव नहीं है। स्त्रियों और पुरुषों के नैतिक पतन का सबसे बड़ा कारण है काम-वासना। मनुष्यों की पाशविक प्रवृत्तियों में यही वासना सब से अधिक प्रबल होती है। असंयतवासना सर्वत्र निन्द्य है। सभी समाजों में मनुष्यों की अस्वाभाविक दुष्प्रवृत्तियों को रोकने के लिए चेष्टा की जाती है। परन्तु विकृत अवस्था में ही यह उद्दाम होती है। स्वाभाविक अवस्था में मनुष्य का नैतिकपतन हो नहीं सकता। पुरुषों के प्रति स्त्रियो का और स्त्रियों के प्रति पुरुषों का जो स्वाभाविक आकर्षण होता है उसका केवल वासना की तृप्ति में ही अन्त नहीं हो जाता। वह प्रेम के रूप मे परिणत हो जाता है। तब उससे सहानुभूति और सेवा के भाव जाग्रत होते हैं और अन्त में आत्मोत्सर्ग। प्रेम का अन्त आत्मोत्सर्ग में है। सभी देशों के साहित्य में आत्मोत्सर्ग ही प्रेम का आदर्श माना गया है। हिन्दू-समाज में भी यही आदर्श प्रचलित है। उसी से हिन्दू विधवायें आजीवन वैधव्य स्वीकार कर लेती हैं।

परन्तु विचारणीय यह है कि हिन्दू-परिवार में क्या स्त्री और पुरुष के यथार्थ सम्बन्ध में कुछ ऐसे दोष हैं जिनसे स्त्रियों या पुरुषों का,

स्वाभाविक अवस्था में भी, पतन हो सकता है। बङ्किम बाबू की रोहिणी के साथ प्रेमचन्दजी की सुमन की तुलना कीजिए। रोहिणी विधवा है, युवती है, सुन्दरी है। उसके हृदय में वासना है, परन्तु वह गुप्त है। वह वासना इतनी उद्दाम नहीं है कि लोक-लज्जा या समाज की मर्यादा का उल्लङ्घन कर जाय। परन्तु एकबार गोबिन्दलाल ने उसके प्राणों की रक्षा के लिए कुछ दिनों तक उसको एक घर में छिपा कर रक्खा। उस समय गोबिन्दलाल का हृदय चञ्चल नहीं हुआ, यह बात नहीं है। रोहिणी के सौन्दर्य ने उसके हृदय को क्षण भर के लिए क्षुब्ध अवश्य किया। परन्तु वह उद्दाम नहीं हुआ। परन्तु कुछ ही दिनों के बाद रोहिणी को लेकर गोबिन्द भाग गया। उस समय उसने अपनी सती, प्रियतमा, पत्नी का विचार नहीं किया। उसने लोक-लज्जा को भी तिलाञ्जलि दे दी। स्वाभाविक अवस्था में यह सम्भव नहीं था। तब उसकी यह अस्वाभाविक अवस्था क्यों हुई? समाज ने उसके चरित्र की पवित्रता पर विश्वास क्यों नहीं किया? लोगों को उसके चरित्र पर सन्देह क्यों हुआ? अब सुमन का चरित्र लीजिए। सुमन के हृदय में लालसा अवश्य थी। परन्तु उसी लालसा से उसका चरित्र भ्रष्ट न होता। उसके चरित्र में इतनी दृढ़ता है। परन्तु जब वह अपने पति के अनुचित सन्देह के कारण घर से तिरस्कार-पूर्वक निकाल दी गई तब उसने वेश्या-वृत्ति स्वीकार कर लेने में सङ्कोच नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू समाज में पति-पत्नी या स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध में कुछ त्रुटि अवश्य है। एक अँग्रेज रमणी अपने पति के अन्याय युक्त सन्देह का तिरस्कार कर अलग हो सकती है, परन्तु वह चरित्र-भ्रष्ट नहीं होगी। उसकी वासना ही उसे सत्पथ से हटा सकती है। सुमन और रोहिणी पाश्चात्य समाज में सम्भव नहीं हैं, क्योंकि पाश्चात्य समाज में स्त्रियों को सामाजिक स्वाधीनता प्राप्त है। वहाँ भी स्त्रियों को पुरुषों का अत्याचार सहना पड़ता है। परन्तु उसका कारण यह है कि वहाँ स्त्रियों ने अभी तक यथेष्ट आर्थिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता

नहीं प्राप्त की हैं।

भारतवर्ष में आज-कल स्त्री-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में जो आन्दोलन हो रहा है वह समाज में स्त्री और पुरुष का यथार्थ सम्बन्ध निश्चित कर देना चाहता है। जो स्त्री-स्वातन्त्र्य के पक्ष में हैं उनका कथन है कि पुरुष-जाति ने केवल अपनी शारीरिक शक्ति के कारण स्त्रियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। समाज मे पुरुषों का प्राधान्य उसके नैतिक गुणों के कारण नहीं है। सच पूछिए तो समाज में दुराचारों की वृद्धि के कारण पुरुष ही हैं। स्त्रियों का कोई अपराध क्षन्तव्य नहीं है। जो पुरुष स्त्रियों को विपथ पर ले जाते हैं वे स्वयं अपराधों के दण्ड से बच जाते हैं। यही नहीं, समाज में उनके लिए उन्नति का द्वार उन्मुक्त रहता है। परन्तु विपथ-गामिनी स्त्रियों के लिए समाज के सभी मार्ग अवरुद्ध हैं। एक बार कर्त्तव्य-च्युत होने के बाद उनका अधःपतन ही होता जाता है। पतिता स्त्रियों के उद्धार के लिए समाज ने कभी चेष्टा नहीं की। जो देश सभ्य कहलाते हैं उनमें वेश्याओं की वृद्धि क्यों हो रही है? धन पर पुरुषों का अधिकार होने के कारण स्त्रियों को विवश होकर यह नीच वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। सच्ची बात तो यह है कि स्त्रियाँ पुरुषों के सुखोपभोग की सामग्री हो गई हैं। सभी अवस्थाओं में उन्हें पुरुषों की सेवा ही करनी पड़ती है। स्त्री और पुरुष का यह सम्बन्ध क्या उचित है? यह सच है कि स्त्रियों की शारीरिक गठन पुरुषों से कुछ भिन्न है और इसी से उनका कार्य-क्षेत्र पुरुषों के कार्यक्षेत्र से कुछ पृथक् हो जाता है। परन्तु समाज में तो उनका स्थान होना चाहिए, उन्हें उन्नति के लिए यथेष्ट अवसर मिलना चाहिए। परन्तु पुरुषों ने सर्वत्र अपना आधिपत्य जमा लिया है। स्त्रियाँ उनकी आज्ञानुवर्तिनी ही होकर रह सकती हैं। क्या यह समाज की उन्नति के लिए श्रेयस्कर है? न जाने कब से स्त्रियाँ पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार करती आ रही हैं। परन्तु समाज में विलासिता और दुराचारों का अन्त कभी नहीं हुआ। स्त्रियों पर सदैव अत्याचार होता ही रहा है और उन्हें चुपचाप

पुरुषों के अत्याचार सहने पड़े हैं। अब समाज उनके लिए कौन सी नीति निर्दिष्ट करना चाहती है? क्या वह उन्हें यथेष्ट स्वाधीनता देने के लिए उद्यत है?

हिन्दू-समाज की सब से बड़ी विशेषता यह है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता के आदर्शों से अभी तक उसका सम्बन्ध बना हुआ है। सीता और सावित्री काव्यों के पात्र नहीं हैं। उन्हीं की पतिभक्ति और पातिव्रत के आदर्श पर हिन्दू-नारी का जीवन ठहरा हुआ है। भगवान् रामचन्द्र या कृष्णचन्द्र केवल पूजनीय नहीं हैं, अनुकरणीय हैं। हिन्दू-मात्र का विश्वास है कि धर्म की ही रक्षा के लिए ये सब पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे। इसी से पति-भक्ति और पति-सेवा में ही लोग स्त्री-जीवन की सफलता देखते हैं। ब्राह्मणों को भूसुर मानकर वे अभी तक उन्हें पूज्य समझते हैं। उनका विश्वास है कि प्राचीन काल की जो रीति या नीति है वह सर्वथा निर्दोष है। उनका कथन है कि भारतवर्ष ने प्राचीन-काल में ही अपनी एक विशेष सभ्यता स्थापित कर ली है। उस सभ्यता का मूल धर्म है। प्राचीनकाल से आज तक उसने अपनी इस विशेषता को नहीं छोड़ा है। उसकी यह विशेषता उसके प्राचीन साहित्य के आदर्श चरित्रों में प्रकट हुई है। भगवान् रामचन्द्र, भीष्मपितामह, धर्मराज युधिष्ठिर आदि के पुनीत चरित्रों से यह जाना जा सकता है कि हिन्दू-समाज का लक्ष्य क्या है। पाश्चात्य सभ्यता के आदर्शों से हमारे समाज का कल्याण नहीं हो सकता। हिन्दू-धर्म में आचार की बड़ी महिमा है। वही परम धर्म माना गया है। आचार-भ्रष्ट लोगों से समाज में दुर्नीति ही फैल सकती है। यह कुसंस्कार नहीं है, जातीय संस्कार है। समाज में सदैव आचार की पवित्रता की रक्षा की जानी चाहिए। सामाजिक बन्धनों में शिथिलता आने से ही समाज की मर्यादा भङ्ग हो जाती है।

परन्तु धर्म और आचार में भेद क्या है? क्या सदाचार से अतिरिक्त कोई धर्म है? सदाचार के लिए क्या न्याय, दया, क्षमा, शौर्य, परोपकार, धैर्य, इन्द्रिय-दमन आदि गुणों के अतिरिक्त भी किसी

ऐसे गुण की आवश्यकता है जिसका सम्बन्ध किसी जाति-विशेष से है ? कहा जाता है कि लोक-मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् रामचन्द्र ने सीताजी को निरपराधिनी जान कर भी परित्याग कर दिया। क्या यह उचित है ? विचारणीय यह है कि क्या समाज की मर्यादा के लिए व्यक्ति पर अन्याय किया जा सकता है।

जिसे हम समाज कहते हैं वह कुछ रीतियों का अनुसरण करना ही जानता है। वह व्यक्ति को न देख कर रीति को देखता है। उसका सम्बन्ध वैवाहिक पद्धति से है, वर-वधू से नहीं। वह कार्य को देखता है, भाव को नहीं। जब तक समाज में इसी प्रकार मानवीय भावों की उपेक्षा की जायगी तब तक व्यक्ति और समाज का सङ्घर्ष कभी दूर नहीं हो सकता। धर्म के पथ पर जो लोग सदैव बने रहते हैं उन्हें भी समाज की निन्दा, अवज्ञा और लाञ्छना सहनी पड़ती है। सत्य की रक्षा के लिए भी कितने ही लोगों को अपने प्राण देने पड़े हैं। बात यह है कि समाज या राष्ट्र निर्जीव यन्त्र की तरह निर्दिष्ट पथ पर ही चल सकता है। परन्तु जो सच्चा धर्म है वह समाज की कृत्रिम विधियों से वद्ध नहीं है। यही कारण है कि धार्मिक व्यक्ति को जो काम करने में सङ्कोच होता है वह समाज या राष्ट्र को नहीं होता। सीता के परित्याग अथवा शूद्रक के वध में भगवान् रामचन्द्र को व्यथा नहीं हुई, यह बात नहीं है। परन्तु समाज को कुछ व्यथा नहीं हुई। समाज के नाम से लोग अन्याय कर सकते हैं। धर्म के नाम से लोग अत्याचार कर सकते हैं। इसका कारण यही है कि हम लोगों ने समाज या राष्ट्र में मानवीय भावों को अलग कर दिया है। जो धर्म मनुष्य-मात्र के लिये है, जिसमें सहानुभूति, दया, क्षमा, प्रेम और न्याय है, वही समाज या राष्ट्र का आधार होना चाहिए। इनकी उपेक्षा कर कोई भी समाज अपनी उन्नति नहीं कर सकता। हिन्दू समाज के जितने विधि-विधान हैं उनकी परीक्षा यही धर्म कर सकता है और जो विधि-विधान उसकी कसौटी पर ठीक नहीं उतरेंगे वे सर्वथा त्याज्य हैं।

३—समाज-समस्या

जातीय जीवन के साथ जातीय साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। जातीय साहित्य में जातीय जीवन की ही अभिव्यक्ति होती है। जाति की उन्नतावस्था में उसमें ज्ञान-स्पृहा भी प्रबल होती है। जहाँ वह अपनी क्षमता बढ़ाने के लिए प्रयत्न करती है वहाँ वह नूतन तथ्यों को भी खोजने में व्यस्त रहती है। ज्यों ज्यों उसके ज्ञान की वृद्धि होती है, ज्यों ज्यों वह नूतन तथ्यों का संग्रह करती है त्यों त्यों उसकी क्षमता भी बढ़ती जाती है। सभी देशों के इतिहास में हम यही बात देखते हैं। प्राचीन-काल में जब भारत की ऊर्जितावस्था थी तब यहाँ ज्ञान की भी खूब चर्चा थी। साहित्य के सभी अङ्गों की उस समय वृद्धि हुई। ग्रीस और रोम के अभ्युदय-काल में वहाँ काव्य नाटक, दर्शन और विज्ञान की श्री-वृद्धि हुई। मध्य-युग में मुसलमानों का प्रभुत्व हुआ और उसी के साथ ज्ञान पर भी उनका आधिपत्य स्थापित हुआ। आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों में जितनी राजनैतिक क्षमता है उतनी ही ज्ञान-स्पृहा भी है। कितने ही कारणों से जाति का ह्रास होता है। विलासिता, दुर्नीति, अहङ्कार आदि दोष उत्पन्न हो जाने से जाति की शक्ति क्षीण होने लगती है। तब उनकी ज्ञान-स्पृहा भी नष्ट हो जाती है। जिज्ञासा का स्थान अन्धविश्वास ले लेता है और तर्क का हठ और दुराग्रह। उस समय अज्ञान की वृद्धि हो जाने से जाति में अनुदारता और असहिष्णुता के भाव भी आ जाते हैं। अनुदारता और असहिष्णुता, धर्मान्धता और उग्रता का कारण अज्ञान ही है। जो जाति अधःपतित हो रही है उसके साहित्य में उदात्त भावों का समावेश कहाँ से हो। परन्तु जब जाति में नवजीवन के लक्षण प्रकट होने लगते हैं तब साहित्य में भी एक नवीन स्फूर्ति-सी आ जाती है। उस समय जाति के साथ साहित्य भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगता है।

जो जाति यह चाहती है कि उसका साहित्य महत् हो उसको अपने जीवन में भी महत्ता लाने का प्रयत्न करना चाहिए, केवल सरस भावों के विन्यास अथवा कोमल कल्पना के विलास से जाति में न तो महत् साहित्य की सृष्टि होती है और न उनकी क्षमता ही बढ़ती है।

आज-कल हमारे देश के सभी समाचार-पत्रों में ऐसे समाचार प्रकाशित होते हैं जिनसे यही जान पड़ता है कि हम लोगों की स्थिति बड़ी निराशाजनक है। कितने ही विद्वानों का कथन है कि हिन्दू-समाज में धर्म की बड़ी महिमा है। हिन्दू-समाज के आचार-व्यवहार, सभी में धर्म का भाव विद्यमान है। स्वयं हिन्दू-जाति को अपनी इस धार्मिकता का गर्व है। परन्तु आश्चर्य्य की बात यह है कि धर्म की विद्यमानता में भी हिन्दू-समाज में अनाचारों की वृद्धि हो रही है। हिन्दी के समाचारपत्रों में हिन्दू-बालिकाओं पर बलात्कार किये जाने के समाचार प्रायः प्रतिदिन ही छपते हैं, इससे इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दू-समाज में धर्म के प्रति श्रद्धा चाहे जितनी हो, धार्मिक भावों में कुछ शिथिलता अवश्य आ गई है। उनमें मनुष्यत्व का ह्रास भी हो रहा है। नहीं तो ऐसे पाशविक अत्याचारों के समाचार ही न निकलते।

कुछ समय से हिन्दू-समाज में सङ्गठन और शुद्धि का आन्दोलन हो रहा है। इसी अन्दोलन के कारण हिन्दू और मुसलमानों में वैमनस्य भी हो गया है। हिन्दू और मुसलमानों की समस्या ने अब उग्ररूप धारण कर लिया है। हिन्दू-पत्र हिन्दुओं को सावधान कर रहे हैं और मुसलमान-पत्र मुसलमानों को। दोनों जाति के लोगों को यह आशङ्का हो रही है कि उनके धर्म के मूल पर कुठाराघात हो रहा है। यदि ये लोग सावधान नहीं होंगे तो उनके धर्म का अस्तित्व ही न रहेगा। धर्म-नाश की इस आशङ्का ने दोनों को बिचलित कर दिया है और दोनों स्वधर्म-रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गये हैं। धर्म की रक्षा करना सचमुच प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है, परन्तु ऐसा कोई भी धर्म

न होगा जिसका यह उद्देश हो कि मनुष्य अपने मनुष्योचित गुणों को भूल कर धर्म की रक्षा करे। दुर्बलों पर अत्याचार करना किसी भी धर्म को मान्य नहीं है। प्रेम, दया, सहिष्णुता, न्याय आदि गुणों के विकास के लिए सभी धार्मिक-सम्प्रदायों के लोग प्रयत्न करते हैं। यदि उन्हीं गुणों को भूल कर हम अपने धर्म की उन्नति करना चाहें तो वह धर्म की उन्नति कभी नहीं कही जा सकती। आश्चर्य्य की बात यही है कि धर्म-रक्षा में सचेष्ट हिन्दू-और मुसलमान अपने उन सद्गुणों की रक्षा में सचेष्ट नहीं जान पड़ते जिनके कारण उनकी गणना पशुओं में न होकर मनुष्यों में होती है।

कुछ लोग राजनैतिक और साम्प्रदायिक आधार पर हिन्दू और मुसलमानों में समझौता कराना चाहते हैं। ऐसे समझौते में अपने अपने राजनैतिक, आर्थिक या साम्प्रदायिक स्वार्थों पर दृष्टि रखने के कारण दोनों दल एक दूसरे से अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे ही। और तब उनमें पारस्परिक सहानुभूति या प्रेम की वृद्धि नहीं हो सकती। जब तक इन दोनों जातियों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति नहीं है तब तक उनका विरोधभाव दूर होने का नहीं। सच्ची बात यह है कि स्वार्थों को प्रधानता देने से सहानुभूति हो नहीं सकती। उससे तो केवल यथेच्छाचार बढ़ता है। यथेच्छाचार और स्वतंत्रता में भेद है। जहाँ तक एक व्यक्ति का सम्बन्ध अपने व्यक्तित्व से है वहाँ तक वह अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये बिलकुल स्वतंत्र है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए यथेष्ट सुअवसर दिया जाना चाहिए। यही स्वतन्त्रता है। परन्तु जहाँ उसकी इच्छाओं का सङ्घर्ष अन्य लोगों की इच्छाओं से होता है, जहाँ उसका सम्बन्ध समाज से है, वहाँ वह अपनी ही इच्छा को प्रधानता नहीं दे सकता। वहाँ उसे समाज की इच्छा को मानना पड़ता है। जिसे हम समाज की मर्यादा कहते हैं वह व्यक्तियों के यथेच्छाचार को रोकने के लिए है। जिस प्रकार व्यक्तियों के यथेच्छाचार का नियन्त्रण समाज करता

है उसी प्रकार समाज के यथेच्छाचार का भी नियन्त्रण होने से भिन्न समाजों मे एकता स्थापित होती है, और उसी एकता की प्राप्ति के लिए सभी समाजों को चेष्टा करनी चाहिए। समाज हो या राष्ट्र हो, दोनों का आधार स्वार्थपरता नहीं, स्वार्थ-त्याग है। स्वार्थ-त्याग किसी उच्च आदर्श के लिए किया जा सकता है। यह सच है कि किसी व्यक्ति के न्यायोचित अधिकारों पर समाज हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसी प्रकार किसी समाज के न्याययुक्त अधिकारों के विरुद्ध कोई दूसरा समाज आंदोलन नहीं कर सकता। परंतु ऐसे अधिकार तभी न्याय्य है जब उनसे दूसरे व्यक्तियों या समाजों का अनिष्ट होने की सम्भावना नहीं है। यदि किसी एक व्यक्ति को ऐसे अधिकार दे दिये जायँ जिनसे दूसरों का अनिष्ट होता है तो वे अधिकार उचित नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार किसी धार्मिक सम्प्रदाय को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के धार्मिक कृत्यों को रोक दे। न्याय्य अधिकार वही है जो व्यक्ति या समाज के स्वार्थों का विचार न कर मनुष्य-मात्र के लिए उपयुक्त होता है। यही कारण है कि एक व्यक्ति अथवा एक समाज के अधिकारों की अपेक्षा मनुष्यत्व के अधिकार कहीं ऊँचे होते हैं। यदि हम मनुष्य के अधिकारों को छोड़ कर व्यक्तिगत अथवा साम्प्रदायिक अधिकारों के लिए ही यत्न करेंगे तो ऐसे अधिकारों से समाज का कल्याण नहीं हो सकता। यही नहीं, जब तक हम उस मनुष्यत्व का आदर करना नहीं सीखेंगे तब तक हम व्यक्ति या समाज के अधिकारों की भी रक्षा न कर सकेंगे। बाजा बजाना अथवा न बजाने देना, जलूस निकालना अथवा जलूस रोक देना, कुर्बानी करना अथवा कुर्बानी न करना आदि बातें विशेष अवसर, विशेष व्यक्ति और विशेष समाज से सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु प्रेम, न्याय, दया आदि गुण मनुष्य मात्र के लिए हैं। यदि हम अन्याय पूर्वक विद्वेष अथवा क्रोध के भाव से युक्त होकर बाजा बजाने को रोकने की चेष्टा करें और उसी

अधिकार को अपना सर्वस्व मान लें तो क्या जाति में कभी मनुष्यत्व के उच्च भावों की वृद्धि हो सकती है ? बाजा बजाने, जुलूस निकालने या कुर्बानी करने आदि के अधिकार प्राप्त करने की अपेक्षा न्याय करने, प्रेम करने और दया करने के अधिकार अधिक वाञ्छनीय हैं। यदि हिन्दू-पत्र हिन्दुओं को मनुष्यत्व का आदर करना सिखावें और मुसलमान-पत्र मुसलमानों को न्याय और प्रेम की शिक्षा दें तो देश का अधिक कल्याण हो।

हिन्दू-मुसलमानों के विरोध ने लोगों में कितना पशुत्व भाव फैला दिया है, यह समाचारों से प्रकट होता है। एक पत्र में प्रकाशित हुआ था कि एक डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने एक हिन्दू युवती को उड़ा ले जाने, उस पर बलात्कार करने और उसके ज़ेवर छीन लेने के अपराध में एक मुसलमान को ११ वर्ष की सज़ा दी। एक दूसरे पत्र में पढ़ा कि एक रूपवती बालिका को कुछ पठान जबरदस्ती उठा कर ले गये और वह भ्रष्ट कर दी गई। बलात्कार और अनाचार के ऐसे समाचार प्रायः प्रतिदिन ही निकलते रहते हैं। अधिक उद्धरण की आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त समाचारों में मुसलमान गुण्डों के अत्याचार वर्णित हैं। हिन्दू-समाज में हिन्दू-बालिकाओं पर अत्याचार करनेवाले हिन्दू गुण्डों के कार्य्य-कलाप भी हिन्दी-पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। उनसे यह स्पष्ट है कि इन अत्याचारों को रोकने के लिए ऐसे उपायों का आश्रय लिया जाय जिससे हम लोग मनुष्यत्व का आदर करना सीखें। आत्म-रक्षा करने के लिए सङ्गठन की आवश्यकता अवश्य है। समाज की वृद्धि के लिए शुद्धि की भी आवश्यकता है। परन्तु हिन्दू-समाज इतने ही में अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझ ले। कुछ मुसलमानों या ईसाइयों को अपने सम्प्रदाय में मिला लेने से हिन्दू-समाज में उन आदर्शों का प्रचार नहीं हो सकता जिनका गर्व उसे है। जो स्वयं जर्जर और अधःपतित हो रहा है, जहाँ अत्याचार और अन्याय के एक नहीं अनेक उदाहरण हैं, उसे पहले अपने को ही शुद्ध कर लेना चाहिए।

शुद्धि की आवश्यकता हिन्दू-समाज के भीतर भी है।

हिन्दू-मुसलमान के विरोध का कारण केवल साम्प्रदायिक मतभेद नहीं है। साम्प्रदायिक मतभेद तो हिन्दू-जाति में भी है। हिन्दू-समाज में एक नहीं, अनेक सम्प्रदाय हैं। उन सम्प्रदायों में घोर विरोध है। वे एक दूसरे पर आघात करते ही रहते हैं। वैष्णवों और शाक्तों में क्या कम विरोध है? जैनों और अन्य हिन्दुओं में क्या धार्मिक एकता है? हिन्दू-समाज में तो एक ओर निरीश्वरवादी हैं और दूसरी ओर मूर्ति-पूजक, परन्तु भिन्न भिन्न सम्प्रदाय होने पर भी हिन्दू-समाज में एकता का सूत्र-बन्धन अवश्य है। उसी सूत्र-बन्धन के कारण इतने विभिन्न सम्प्रदाय हिन्दू-जाति में सम्मिलित हो गये हैं। उस एकता का मूल कारण है जातीय संस्कार की एकता। जातीय संस्कार एक होने के कारण धार्मिक मतभेद जातीयता का बाधक नहीं हुआ। इन जातीय संस्कारों की रक्षा जातीय साहित्य के द्वारा होती है। हिन्दू-जाति में साम्प्रदायिक साहित्य अवश्य है, परन्तु ऐसा कोई भी हिन्दू नहीं है जो रामायण या महाभारत को श्रद्धा की दृष्टि से न देखता हो। संस्कृत-साहित्य की वृद्धि में सभी सम्प्रदाय के विद्वान् संलग्न रहे। काव्य, नाटक, दर्शन, विज्ञान साहित्य के ऐसे अङ्ग हैं जिनका सम्बन्ध किसी भी एक विशेष सम्प्रदाय से नहीं है। उन्हीं में हिन्दू-जाति की जातीयता प्रकट हुई है। हिन्दू-समाज में जो चरित्र आदर्श के रूप में माने जाते हैं अथवा जो भाव उच्च समझे जाते हैं उनका प्रचार उसी साहित्य से हुआ है। यदि हिन्दू-मुसलमानों के जातीय संस्कार एक होते और उनका जातीय साहित्य एक होता तो साम्प्रदायिक मतभेद होने पर भी उनमें यह विरोध-भाव न रहता। परन्तु मुसलमानों का साहित्य भारतवर्ष में आने के पहले कुछ दूसरा ही था, उनके आदर्श भी कुछ दूसरे थे। मुसलमान भारतवर्ष में आकर भारतवर्षीय अवश्य हो गये हैं, भारत-वर्ष उनकी जन्मभूमि अवश्य है परन्तु इस्लाम का गौरव स्थान भारत-वर्ष नहीं है, अरब है। वहीं उनके प्राचीर साहित्य का विकास हुआ,

वहीं उनके आदर्शों की सृष्टि हुई। इसीलिए अरब से मुसलमानों का सम्बन्ध नहीं छूट सका। मुसलमान समझते हैं कि जिस दिन वे अरब पर से अपनी दृष्टि हटा लेंगे उसी दिन इस्लाम का समस्त गौरव नष्ट हो जायगा। यही कारण है कि अधिकांश मुसलमानों का भारतवर्ष के प्राचीन गौरव के प्रति वह अनुराग नहीं हो सकता जो एक हिन्दू को है। भारत की प्राचीन सभ्यता और साहित्य पर अनुराग न होने के कारण वे हिन्दू-जाति के जातीय संस्कारों को भी आदर की दृष्टि से नहीं देख सकते। जब तक किसी जाति में ज्ञान की ओर स्पृहा रहती है, जब तक वह अपनी उन्नति के लिए सचेष्ट रहती है, तब तक अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए अन्य देशों के साहित्य और कला से उच्च भाव बराबर ग्रहण करती रहती है। भारतवर्ष में आने के पहले जब मुसलमानों की गौरव-श्री बग़दाद में विकसित हो रही थी उस समय हिन्दू-जाति के साहित्य और कला का वहाँ यथेष्ट आदर था। जब भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तब भी हिन्दू-साहित्य से कितने ही ग्रन्थ-रत्नों का अनुवाद कितने ही श्रेष्ठ मुसलमान विद्वानों ने किया। यदि साहित्य में उसी प्रकार आदान-प्रदान का क्रम बना रहता, यदि श्रेष्ठ विद्वान् साम्प्रदायिक मतभेद को छोड़कर उच्च भावों का प्रचार करते रहते तो आज मुसलमानों में हिन्दू-साहित्य के प्रति विशेष अनुराग हो जाता और भारत की प्राचीन सभ्यता के लिए उन्हें भी गर्व होता। और तब हिन्दू-मुसलमानों की यह समस्या न रह जाती।

मुसलमानों में इस भाव की वृद्धि भी हो रही है। कितने ही मुसलमान भारतवर्ष को उसी प्रेम से देखते हैं जैसा कोई मातृभक्त अपनी माता को देखता है। महाकवि इक़बाल की स्वदेशभावना जिन पद्यों में व्यक्त हुई है उन पद्यों को सभी लोगों ने अपना लिया है। तो भी यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतवर्ष के प्रति अभी उनकी विशेष श्रद्धा व्यक्त नहीं हुई है। यह सच है कि कितने ही मुसलमान कवियों और साधकों ने हिन्दू-भावों को उज्ज्वल रूप दिया

है, परन्तु मुसलमान जाति में अभी इन भावों का यथेष्ट प्रसार नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि यदि कभी हिन्दू और मुसलमानों का सच्चा सम्मिलन होगा तो वह उस साहित्य की भित्ति पर स्थापित होगा जिसमें मानव-समाज के उच्चतम आदर्शों की प्रतिष्ठा है। उसी दिन हिन्दी और उर्दू का विरोध जाता रहेगा, देवनागरी और फ़ारसी लिपि का झगड़ा नहीं रहेगा और हिन्दू और मुसलमानों का वैमनस्य भी मिट जावेगा। तभी भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का अभ्युदय होगा। जो लोग भारतवर्ष में राष्ट्रीयता स्थापित करना चाहते हैं उन्हें ऐसे ही राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि में संलग्न होना चाहिए।

हिन्दू-धर्म के विरुद्ध यह बात कही जाती है कि वह प्रचारक धर्म नहीं है। जो हिन्दू के घर में जन्म लेते हैं वही हिन्दू-धर्म में स्थान पा सकते हैं। हिन्दू-धर्म पर अन्य किसी का अधिकार नहीं है। कुछ लोगों की समझ में यह हिन्दू-धर्म की सङ्कीर्णता है। बात सच होने पर भी यह आक्षेप मिथ्या है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार बौद्ध-धर्म, ईसाई-धर्म और मुसलमान-धर्म प्रचारक धर्म है उसी प्रकार हिन्दू-धर्म प्रचारक धर्म नहीं है। अच्छा, यह प्रचारक धर्म है क्या? जो धर्म जाति और वर्ण की उपेक्षा कर सभी मनुष्यों को ग्रहण करे वही धर्म प्रचारक है। प्रचार का मतलब है कि कुछ विशेष विश्वासों को जन-समूह में प्रचलित करना। जितने प्रचारक धर्म हैं वे सब कुछ मतों और विश्वासों पर स्थापित हैं। ये मत और विश्वास सार्वजनिक नहीं हैं अर्थात् सभी इनको सत्य नहीं मानते। जो इन मतों को नहीं मान सकते वे इन धर्मों के बाहर रहते हैं। इन धर्मों की व्यापकता मतैक्य पर निर्भर है। परन्तु, हिन्दू-धर्म में यह बात नहीं है। उसका प्राण मत नहीं, आचार है; विश्वास, नहीं अनुष्ठान है। यदि ईसाई-धर्म और इस्लाम धर्म को हम प्रचार-धर्म कहें तो हिन्दू-धर्म को हम आचार-धर्म कहेंगे। सभी प्रचारक धर्म आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में उदार होते हैं। परन्तु मत और विश्वास के विषय में सङ्कीर्ण होते हैं।

हिन्दू-धर्म मत और विश्वास के सम्बन्ध में उदार होता है परन्तु आचार में सङ्कीर्ण होता है। यही इन दोनों में भेद है। विचारणीय यह है कि मत की शृङ्खला से मन को बाँधना अच्छा है या आचार के बन्धन से अपना वाह्य आचरण और कर्माकर्म आबद्ध करना।

इसमें सन्देह नहीं कि पराधीनता से, बन्धन से, मनुष्यत्व के विकास में बाधा होती है। परन्तु बिना किसी प्रकार के बन्धन के समाज की स्थिति सम्भव नहीं।

स्वाधीनता और बन्धन, इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किये बिना मनुष्यत्व की रक्षा असाध्य है। हिन्दू के वर्णाश्रम में यही सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की गई है। समाज में गृहस्थाश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को समाज के नियम के अनुसार चलना होगा। इन नियमों से जब चित्त की शुद्धि हो जाय, चरित्र निर्मल और प्रवृत्तियाँ संयत हो जाँय तब वानप्रस्थ और अन्त में संन्यास ग्रहण कर मनुष्य सभी नियमों का अतिक्रमण कर सकता है। साधना की अवस्था में पराधीनता और सिद्धावस्था में स्वाधीनता, यही हिन्दू-समाज में आचार की व्यवस्था है। इसी से उसने द्राविड़ देश को अपने अङ्गीभूत किया और हूण, शक प्रभृति अहिंदू-जातियों को हिंदू-जाति में स्थान दिया। आचार के बंधन से ही हिंदू-जाति ने अपने को बाँधा है। और इसी बंधन के भीतर लाकर वह दूसरों को आत्मसात् कर लेती है। वर्णाश्रम को मानकर, सामाजिक यम-नियमों को स्वीकार कर सभी को यथेष्ट चिंता और विचार करने का अधिकार है। हिंदू जाति में कोई शैव है, कोई वैष्णव है और कोई शाक्त है। कोई नास्तिक है, तो कोई आस्तिक। तत्त्वालोचना में हिंदू-दर्शन-शास्त्रों में तीव्र मत-भेद है। निरीश्वर सांख्य और सेश्वर योग तथा न्याय, वैशेषिक या पूर्व मीमांसा और उत्तर-मीमांसा सभी अपने अपने सिद्धान्तों का मण्डन और दूसरों के सिद्धान्तों का खण्डन भी करते हैं। तो भी ये सभी हिन्दू-धर्म में सम्मिलित हैं। कबीर-पन्थी, दादू-पन्थी, नानक-पन्थी आदि कितने ही नये पन्थ भी प्रचलित

हैं। परंतु कोई भी हिंदू-समाज से वहिष्कृत नहीं हुआ। विचार की यह स्वाधीनता, साधना के ये ऋजु-कुटिल नाना पथ हिन्दू-धर्म में ही हैं। इन्हीं के कारण हिन्दूधर्म में वह उदार और सार्वजनीन भाव आ गया है जो अन्यत्र कहीं नहीं है।

प्रचारक धर्मों में यह उदारता सम्भव नहीं है। कोई भी प्रचारक धर्म यह स्वीकार नहीं करेगा कि उसके विरोधी मतों में भी सत्य है। उनका कथन है कि धर्म की सार वस्तु और मुक्ति का एक-मात्र पथ केवल उन्हीं को लक्ष्य है। जो ईसाई नहीं है उन्हें ईसाई के कथनानुसार नरक की यातना सहनी पड़ेगी। जो मुसलमान नहीं हैं उन्हें जहन्नुम जाना पड़ेगा। इसीलिए वे संसार का कल्याण करने के लिए अपने संङ्कीर्ण मत का प्रचार करते हैं। हिन्दू-धर्म ने कभी अपने को इस दृष्टि से नहीं देखा। उसने विश्वेश्वर का विश्वरूप ही देखा। उसने कभी अपने को सत्य का एक मात्र अध्यक्ष नहीं समझा।

हिन्दू ईसाई-धर्म के बाह्य क्रिया-कलाप की अवहेलना कर ईसा को भगवान् के रूप में देख सकता है। हिन्दू के लिए सम्भव नहीं है तो यही कि वह ईसा के लिए कृष्ण को अथवा मुहम्मद के लिए बुद्धदेव को नहीं छोड़ सकता। इसी को चाहे तो कोई सङ्कीर्णता कह सकता है। किसी भी धर्म की निन्दा करना वह पाप समझता है। यही हिन्दू धर्म का महत्त्व है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना के मूल में है स्वराज्य की इच्छा। यह स्वराज्य है क्या? शब्द के अर्थ से यही प्रकट होता है कि जो स्वयं अपना राजा है स्वराज्य उसी के हस्तगत है। जो स्वयं अपना राजा होगा उसे निर्भय होना ही चाहिए। वह न्यायवान् होगा और मनुष्य-मात्र पर प्रेम रक्खेगा। निर्भीक होने से ही उसे जब कोई यह कहेगा कि तुम मेरी आज्ञा मानो, तब वह यही उत्तर देगा कि जो आज्ञा मेरे विवेक के विरुद्ध है उसे मैं कभी नहीं मान सकता। जो कानून हमारे प्रतिनिधियों से नहीं बनाये गये हैं उन्हें मानने के लिए हम बाध्य नहीं

हैं। इसके लिए उसे कितना ही दण्ड क्यों न दिया जाय, वह अपने निश्चय से नहीं टलेगा। जिसमें ऐसी निर्भीकता है उसने अपने लिए स्वराज्य अवश्य प्राप्त कर लिया। परंतु यह निर्भीकता उसे प्राप्त नहीं हो सकती जो स्वार्थ के वशीभूत है, जो अपनी प्रवृत्तियों का दास है। जो अमरत्व पर विश्वास करता है उसी को यह अक्षय-पद प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति न्याय-निष्ठ भी होगा। जो दूसरों के न्यायोचित अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा ऐसे अन्यायी के हृदय में नैतिक साहस का भी अभाव रहता है। जो न्याय-निष्ठ है वह मनुष्य-मात्र से प्रेम करेगा। न्याय मनुष्य-प्रेम पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव जो स्वराज की कामना करते हैं वे न्याय और प्रेम का तिरस्कार नहीं कर सकते। जिस जाति में ऐसे स्वराज्य-प्रेमी व्यक्ति होंगे वह पराधीन नहीं हो सकती। सच तो यह है कि ऐसे ही व्यक्तिगत चरित्र पर जातीय चरित्र का निर्माण होता है। जातीय चरित्र में भी व्यक्तिगत चरित्र की तरह निर्भीकता, न्याय और मनुष्य-प्रेम होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है।

भारतीय राष्ट्रीयता की स्थापना में सब से बड़ी बाधा है भिन्न भिन्न समाजों का धार्मिक विद्वेष। संसार के सभी देशों में भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में ईर्ष्या-द्वेष का अस्तित्व देखकर कुछ लोग धर्म का ही लोप कर देना चाहते हैं। वे धर्म का स्थान मनुष्य की बुद्धि को (Reason) दे डालना चाहते हैं। फ्रांस के इतिहास से यह स्पष्ट है कि धर्म का उच्छेद करने की चेष्टा कितनी भयंकर होती है। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने धर्म का उच्छेद कर बुद्धि की प्रतिष्ठा की। उसका फल हुआ भीषण हिंसा। बात यह है कि धर्म का विनाश कभी नहीं हो सकता। परंतु प्रत्येक धर्म में जो कुछ नित्य और सनातन है उस पर ध्यान न देकर जब लोग वाह्य अनुष्ठानों को ही महत्त्व देने लगते हैं तभी साम्प्रदायिक विरोध की सृष्टि होती है। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान की एकता के लिए धर्म के इसी नित्य तत्त्व पर ज़ोर दिया था। उसी को ग्राह्य करने से विरोध दूर हो सकता है।

सभी मनुष्य शक्ति की कामना करते हैं। वे जानते हैं कि जिनमें शक्ति नहीं है, जो दुर्बल हैं, वे अपनी आत्मरक्षा नहीं कर सकते। उन्हें सदैव दूसरों की दया पर आश्रित रहना पड़ता है। परंतु शक्ति केवल शारीरिक नहीं होती, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ भी होती हैं। अतएव इनको भी प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। शरीर के साथ मन और आत्मा का घनिष्ठ सम्बंध है। जिनमें मानसिक और आध्यात्मिक बल नहीं है उनका शारीरिक बल भी व्यर्थ है। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि उनमें यथेष्ट शारीरिक बल होने पर भी मानसिक शक्ति का अभाव होने से भीरुता आ जाती है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि जिनमें शारीरिक शक्ति का अभाव है वे अपनी मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों की यथेष्ट उन्नति भी नहीं कर सकते। रुग्ण और निर्बल जाति में मानसिक शक्ति का पूर्ण विकास नहीं होता। यह सच है कि दो चार ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो स्वयं शारीरिक बल से हीन होते हैं परंतु उनमें मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का यथेष्ट विकास हो जाता है। परंतु यह बात सिर्फ व्यक्तियों तक ही परिमित है। जातियों के विषय में यह नहीं कही जा सकती। जब हिन्दू-जाति ने अपनी मानसिक शक्तियों को खूब उन्नत कर लिया था तब वह इतनी पराक्रमहीन भी नहीं थी। मुसलमानों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास भी साथ ही साथ हुआ। इसी प्रकार इन शक्तियों का ह्रास भी साथ ही साथ हुआ है। यह तो निश्चित है कि जब किसी जाति की स्वाधीनता का लोप होता है तब उसकी शारीरिक शक्ति की ही अधोगति नहीं होती, उसका मानसिक और आध्यात्मिक पतन भी होता है। अतएव जो जाति स्वाधीन होना चाहती है उसे अपनी सभी शक्तियों को उन्नत करना ही पड़ेगा।

जिस प्रकार शक्ति के ह्रास से स्वाधीनता का लोप होता है उसी प्रकार पराधीनता में शक्ति का लोप हो जाता है। हिन्दू-जाति ही इसका एक उदाहरण है। सैकड़ों वर्षों तक वह स्वाधीन रही है। उसने

भारत में सुशासन की व्यवस्था की थी, शत्रुओं को पराजित किया था, विद्रोह का दमन किया था और देश में शान्ति की स्थापना की थी। परन्तु कुछ ही समय तक पराधीन रहने के कारण उसकी कर्तृत्व-शक्ति का लोप सा हो गया है। वह अपनी आत्म-रक्षा तक करने में अपने को अयोग्य समझती है। भारतीयों की स्वराज्य-प्राप्ति की चेष्टा में सबसे बड़े भय का कारण हिन्दू-मुसलमान का पारस्परिक विरोध हो गया है। कितने ही लोगों की यह धारणा हो गई है कि अंगरेज़ों की छत्र-छाया में ही यह विरोधाग्नि शान्त रह सकती है। इस धारणा के मूल में आत्म-शक्ति के प्रति अविश्वास है। इसी से हिन्दू-मुसलमानों को सदैव सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और मुसलमान हिन्दुओं से आशङ्कित रहते हैं। मौलाना मुहम्मद अली ने बिलकुल ठीक कहा है कि अब न तो मुसलमान हिन्दुओं का अन्त कर सकते हैं और न हिन्दू मुसलमानों का। मुसलमानों को अपने मन से यह सन्देह दूर कर देना चाहिए कि हिन्दू केवल अपने लिए स्वराज्य चाहते हैं। हिन्दुओं के साथ व्यवहार करते समय मुसलमान बहुत अधिक कमज़ोर नज़र नहीं आ सकते। हमें स्मरण रखना चाहिए कि कमज़ोरों को ही दूसरे के सामने कमज़ोर समझे जाने का डर बना रहता है। सच तो यह है कि आत्म-रक्षा में अपने को असमर्थ समझने ही के कारण लोगों में आशंका होती है। पराधीनता कभी किसी जाति को बल नहीं देती। यही नहीं, वह जाति की आशा और आकाङ्क्षा तक को पङ्गु कर देती है।

संसार की आधिभौतिक शक्तियाँ सूर्य के प्रचण्ड तेज के समान बड़ी शक्ति-शाली हैं। यद्यपि देखने में मनुष्य के हृदय के ऊपर इन शक्तियों की अपेक्षा धार्मिक, नैतिक, या राजनैतिक विचारों का अधिक आधिपत्य रहता है तथापि वास्तव में यह आधिपत्य देखने भर का है, क्योंकि भौतिक शक्तियों का प्रभाव मनुष्य के ऊपर अत्यधिक होता है। साथ ही साथ इन शक्तियों को धार्मिकता या आध्यात्मिकता का प्रकृत विरोधी ठहराना भयङ्कर भूल है। शरीर के लिए भोजन चाहिए, कपड़े

चाहिए, मकान चाहिए। अधिकांश मनुष्यों के लिए शरीर की यह आवश्यकता सब से बड़ी आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के सामने वे सभ्य विचारों को ताक पर रख सकते हैं। हमारे आर्थिक सङ्गठनों का एक मात्र आधार और प्रवर्तक शरीर की उपयुक्त आवश्यकता है। जहाँ धर्म और शिक्षा जन-साधारण के आर्थिक प्रश्नों को व्यावहारिक रूप से हल करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, वहाँ इनके विरुद्ध हमारे आर्थिक सङ्गठनों की विजय होती है क्योंकि ये हमारी सर्वोपरि आवश्यकता की पूर्ति में साधक होते हैं। मनुष्य का शरीर सब से अधिक स्वार्थी है, उसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को बाध्य होना पड़ता है। उसका प्राथमिक और स्वाभाविक स्वरूप आर्थिक स्वरूप है, जिसमें उसका व्यक्तित्व बहुत ही संकुचित रहता है। उसमें मनुष्य केवल अपने और अपने कुटुम्ब के लिए खड़ा होता है। जिस समाज की सृष्टि केवल इसी प्रारम्भिक आधार पर अवलम्बित होती है उसमे रात-दिन छोटे-मोटे अनेक झगड़े होते रहते हैं और उसमें उन उच्च आध्यात्मिक विचारों के सर्वथा विपरीति आचरण दृष्टिगोचर होता है जिनका उद्देश यह होता है कि मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ बराबर कम होता जाय और उसका मन समाज के कल्याण में निरत रहे और उसी से आनन्द प्राप्त करे। मनुष्य जब अपने व्यवहार में इन आदर्शों की ओर एक पग भी नहीं चल सकता तब निराश होकर यह समझ बैठता है कि ऐसे आदर्श केवल स्वर्ग में ही सफलीभूत हो सकते हैं, पृथ्वी पर उनका सम्पादन असम्भव है, वे केवल कहने की बातें हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान स्वतंत्रता का आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब वह मनुष्यों के मस्तिष्क और हृदय के ऊपर आध्यात्मिक आदर्शों का प्रभुत्व स्थिर करने में सब से अधिक सहायक हो, क्योंकि राष्ट्रीयता का उद्देश मनुष्य के वृहत् जीवन में जहाँ स्वार्थ सबसे अधिक प्रबल होता है उस स्वार्थमय व्यक्तित्व की संकीर्णता मिटाना है। शायद पहले पहल

किसी किसी को इस प्रकार राजनैतिक आन्दोलनों से आध्यात्मिक आदर्शों का सम्बंध जोड़ना बिलकुल अनुपयुक्त और हास्यप्रद जान पड़े, किन्तु थोड़े से विचार से इसकी यथार्थता समझ में आ सकती है। संसार के सभी बड़े बड़े धर्म अगोचर स्वर्ग से पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हुए हैं, अनन्त की एक किरण मनुष्य के रूप में प्रकट होकर उसको यहाँ पर लाई है। यदि हम चाहते है कि हमारे आध्यात्मिक और उज्ज्वल विचार केवल मस्तिष्क अथवा मुख में ही न रह सकें, तो हमको उन पर भौतिक आवरण चढ़ा देना चाहिए। राष्ट्रीयता का विचार एक सभ्य और शिक्षित विचार है। किन्तु जब मनुष्य यह देखता है कि उसका पड़ोसी या उसका मालिक राष्ट्रीय आदर्शों में उससे पूर्ण समानता रखते हुए भी व्यवहार मे अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर उसका ख़ून चूस रहा है, उसको अनुचित रीति मे भौतिक सुविधाओं से वञ्चित रखता है तब राष्ट्रीयता के मनोमोहक विचारों पर उसका विश्वास एक-दम उठ जाता है। उसके लिए राष्ट्रीयता कोरी कल्पना और स्वार्थियों का ढकोसला-मात्र रह जाती है। वर्तमान सामाजिक आन्दोलन का सब से बड़ा उद्देश्य समाज के आर्थिक स्वार्थों का एकीकरण होना चाहिए, अर्थात् समाज की प्रत्येक चेष्टा में, व्यक्ति-गत भाव न्यून से न्यून रहे और सारे कार्य-कलाप सामाजिक या राष्ट्रीय हो जायँ। इस प्रकार के सामाजिक और राष्ट्रीय उद्योगों में ही समाज के अधिकांश सदस्यों की व्यक्तिगत भलाई है, इस विचार को सच्चाई और व्यावहारिकता हिन्दू जाति की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था द्वारा भली भाँति सिद्ध हो जाती थी। धीरे धीरे नागरिक का हृदय अपने स्वार्थ को गौण समझना सीखने लगता था और राष्ट्र या समाज की भलाई में ही अपनी भलाई अनुभव करने लगता था। यही कारण है कि वर्ण-व्यवस्था का सम्बंध मनुष्य के दैनिक जीवन के साथ होने के कारण, अन्त में उसी का प्रभाव भारतीय राष्ट्र के चरित्र-निर्माण में सब से अधिक और चिरस्थायी हुआ। इसका सम्बंध मनुष्य की उन क्रियाओं

से है, जिन्हें वह चाहे जिसके शासन में रहे, चाहे जिस धर्म का अनुयायी हो, चाहे जिस सभ्यता की विचार-धारा में प्रवाहित हो, कदापि नहीं छोड़ सकता। इस आन्दोलन का सम्बंध मनुष्य की सबसे बड़ी अवश्यकता और उसके स्थायी उद्योगों से है, अतएव उसके सङ्गठन के सिद्धान्तों का प्रभाव राष्ट्रीय चरित्र गठन पर सब से अधिक होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? वर्ण-व्यवस्था से मनुष्य को अर्थ-शास्त्र की व्यवहारिक शिक्षा मिलती है, उसको जनता की सेवा करने की योग्यता बिना प्रयास प्राप्त हो जाती है, उसके सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य में सच्चे नागरिक भावों का उदय होता है। दैनिक जीवन में सहिष्णुता और सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार काम करना हमारे राष्ट्रीय जीवन का सब से बड़ा गुण होना चाहिए।

४—जाति-समस्या

संसार के इतिहास में ऐसी कोई भी जाति नहीं है जिसने अपनी शक्ति को सदैव अक्षुण्ण रक्खा हो। उत्थान के बाद सभी का पतन हुआ है। कभी किसी जाति ने उन्नति की है तो कभी किसी जाति ने अवनति। परन्तु उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच कर अन्त में सभी का अधःपतन हुआ है। प्राचीन मिस्र का गौरव अब उसके ध्वंसावशेषों में है। कभी भारत की ऊर्जितावस्था थी। अब भारतीय आर्य जाति की गौरव-कथा उसके प्राचीन साहित्य में ही विद्यमान है। प्राचीन ग्रीस की विश्व-विजयिनी शक्ति नष्ट हो गई है। रोम का साम्राज्य अतीत-काल की कथा-मात्र है। मुसलमानों की प्रचण्ड शक्ति के आगे संसार नत हो चुका था। अब उसे ही अपने अस्तित्व की रक्षा की चिन्ता है। आजकल योरपीय जातियों का प्राधान्य है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अभ्युदय चिरस्थायी है। कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने आधुनिक योरपीय सभ्यता की समीक्षा कर उसके भविष्य के विषय में अपनी आशङ्का प्रकट की है। विचारणीय यह है कि किसी जाति के उत्थान और पतन के कारण क्या हैं।

प्राचीन काल में कितनी ऐसी जातियाँ थीं जिनका अब अस्तित्व तक नहीं है। उसके उत्थान-पतन के इतिहास में हम कार्य-कारण का कुछ विलक्षण ही सम्बन्ध पाते हैं। हम यह देखते हैं कि कार्य का उद्देश कुछ था और उसका परिणाम कुछ दूसरा ही हुआ। धर्म की उन्नति के लिए तो आन्दोलन हुआ, पर उसका फल हुआ एक प्रबल जाति की सृष्टि। जाति उठी तो दूसरों को सत्पथ दिखाने के लिए, किन्तु स्वयं विपथगामिनी हो गई। वह अपना उद्देश भूल गई और स्वयं अपने नाश का कारण हो गई। जाति की उन्नतावस्था में उसके पराभव के कारण उत्पन्न हुए और जाति की दुरवस्था में उसकी उन्नति

के साधन प्रस्तुत हुए। तब क्या यह कहा जा सकता है कि मनुष्य-जाति का उत्थान-पतन काल-चक्र का परिणाम-मात्र है? कुछ लोग इसी बात को मानते हैं।

उनका कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य-जीवन का विकास और ह्रास होता है उसी प्रकार जाति की उन्नति और अवनति होती है। मनुष्य बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त होकर अन्त में मृत्यु के चक्र में पड़ता ही है। उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार जाति की अवस्था भी परिवर्तित होती रहती है और अन्त में उसका क्षय होता ही है। परन्तु बात यह है कि जाति में वृद्धावस्था कभी आनी ही न चाहिए, क्योंकि जाति में युवक सदैव वृद्धों का स्थान लेते रहते हैं। एक जाता है तो उसके स्थान में दूसरा आता है। इस प्रकार जाति के जीवन का अन्त ही नहीं हो सकता। यदि किसी जाति का क्षय हुआ है तो हमें यही समझना चाहिए कि पूर्वजों की अपेक्षा उनकी सन्तानों की शक्ति क्षीण होती गई है अथवा अन्य प्रबल जातियों के सङ्घर्षण से वह जाति अपनी रक्षा नहीं कर सकी है। जाति की यही अन्त:स्थिति और वाह्य स्थिति है जिनमें परिवर्तन होने से उसकी उन्नति या अवनति होती है। अब हम इनमें से एक एक की आलोचना करेंगे। पहले हम वाह्य स्थिति को लेते हैं।

वाह्य परिस्थितियों में सब से पहले देश का प्रभाव पड़ता है। देश की प्राकृतिक स्थिति और जल-वायु के कारण जाति में कुछ ऐसी विशेषता आ जाती है जो अन्य देशों के रहनेवाली जातियों में नहीं पाई जाती। जो लोग समभूमि में रहते हैं उनकी अपेक्षा पार्वत्य-देश के निवासी अधिक कष्ट-सहिष्णु होंगे। इसी प्रकार जो लोग सजला-सफला भूमि में कम परिश्रम से अपने जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कर लेते हैं उनकी शारीरिक शक्ति उन जातियों की अपेक्षा कम होगी जो मरु-भूमि में रह कर कठिन परिश्रम से अपने जीवन का निर्वाह कर लेते हैं। इसके सिवा सजला-सफला भूमि में भिन्न भिन्न

जातियों का सङ्घर्षण अवश्य होता रहेगा, क्योंकि सभी मनुष्य वैसे ही देश पाने की कामना करेंगे जहाँ अनायास उनका जीवन-निर्वाह हो जाय। अतएव समभूमि और शस्य-सम्पन्न देश के निवासियों के लिए जाति सम्मिश्रण के कारण जीवन में अधिक जटिलता रहेगी। इस जटिलता का प्रभाव जाति के अशन-वसन, आमोद-प्रमोद तथा जीवन के साधारण कृत्यों पर भी पड़ता है। जब जीवन में सरलता रहती है तब मोटा पहनना और मोटा खाना यथेष्ट रहता है। परन्तु यह जीवन की जटिलता में सम्भव नही रहता। आमोद-प्रमोद के कितने ही उपकरण उस समाज के लिए आवश्यक हो जाते हैं जहाँ सङ्घर्षण अधिक है। मानसिक शक्ति पर भी इसका प्रभाव देखा जाता है। जो जाति अपने जीवन के लिए अपनी शारीरिक शक्ति पर अवलम्बित है उसे जड़ पदार्थ ही अधिक सारवान् प्रतीत होंगे। अतएव जो सभ्यता वह निर्मित करेगी वह जड़ानुगत होगी। जिन कलाओं से जीवन में सुख-स्वच्छन्दता, सुविधा और विलास की वृद्धि होती है उन्हीं की पुष्टि उसमें होगी। इन्द्रिय की परितृप्ति तथा जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की योजना में ही उसकी सभ्यता के आदर्श निर्मित होंगे। इसके विपरीत जो जाति अनायास ही अपने जीवन का निर्वाह कर लेती है वह शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक सुखों की प्राप्ति के लिए अधिक चेष्टा करेगी। अतएव उसकी सभ्यता आध्यात्मिक होगी। इसी आध्यात्मिक सभ्यता के कारण कभी कभी जाति संसार की इतनी उपेक्षा करने लगती है कि वह अकर्मण्य हो जाती है। इसी अकर्मण्यता का फल पतन है। जब भिन्न भिन्न जातियों का सङ्घर्षण होता है तब एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। इससे वे एक दूसरे से कितनी ही बातें ग्रहण कर लेती हैं। इनसे भी जाति की गति उन्नति अथवा अवनति की ओर अग्रसर होती है।

अब हम जाति की अन्तःस्थिति पर विचार करते हैं। जातियों के

पतन का कारण बतलाते हुए विद्वानों ने विलासिता वृद्धि द्वारा जातीय चरित्र-हानि, अज्ञान की वृद्धि, वैराग्य और अकर्मण्यता आदि कारणों का उल्लेख किया है। ये सब कुशिक्षा के प्रभाव कहे जा सकते हैं। एक और कारण है जिसे हम प्राकृतिक निर्वाचन का अभाव कहेंगे। यही जाति की अन्तःस्थित व्याधि का द्योतक है। इसकी व्याख्या एक विद्वान् ने इस प्रकार की है।

जातीय उन्नति या अवनति का मतलब है जाति के व्यक्ति-वर्ग की उन्नति या अवनति। व्यक्ति-वर्ग का अच्छा या बुरा होना दो बातों पर निर्भर है। पहली बात यह है कि उसके जन्म-सिद्ध संस्कार कैसे हैं। दूसरी बात यह है कि उसे शिक्षा कैसे मिली है। जब कोई जन्म लेकर आता है तब वह अपने शरीर के साथ कुछ संस्कार भी लेता आता है। यह सभी जानते हैं कि भिन्न भिन्न बालकों में शक्ति की समानता नहीं रहती। किसी में कोई शक्ति अधिक है तो किसी में कोई शक्ति। शक्ति की तरह स्वभाव में भी भिन्नता रहती है। कोई स्वभाव से दयालु होता है तो कोई स्वभाव से निष्ठुर। किसी की बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो किसी की मन्द। कहा जाता है कि गदहा ठोंक-पीट कर घोड़ा नहीं बनाया जा सकता। इस कथन में सत्यता है। तो भी यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा का भी बड़ा प्रभाव होता है। यहाँ शिक्षा से मतलब उन बातों से है जिन्हें मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती सहचर-वर्ग से सीखता है। बालकों को अपने सहवासियों से जो शिक्षा मिलती है वह उसके चरित्र-निर्माण में बड़ा काम करती है। जो बालक स्वभाव से दयालु होता है वह भी निर्दयों की सङ्गति में पड़कर क्रूर हो जाता है। इसी प्रकार कितनी तीक्ष्ण बुद्धि का बालक क्यों न हो, यदि उसे शिक्षा बिलकुल न दी जाय तो वह मूर्ख हो जायगा। जो बालक विलास की गोद में पले हैं वे विलास-प्रिय अवश्य होंगे। इसी तरह जिन्हें दारिद्र्य का अनुभव करना पड़ा है वे परिश्रमी और कष्ट-सहिष्णु होंगे। मतलब यह है कि चरित्र-निर्माण के लिये जिस प्रकार

स्वाभाविक वृत्ति आवश्यक है उसी प्रकार उन स्वाभाविक वृत्तियों के विकास के लिए शिक्षा की भी आवश्यकता है। एक के अभाव से दूसरे का विकास असम्भव है। गणित के उदाहरण से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। मान लीजिये स्वभाविक वृत्ति 'क' है, शिक्षा 'ख' और मनुष्य या व्यक्तित्व 'ग'। फल यह होगा क×ख=ग। अब अब चाहे क कितना ही कम क्यों न हो, यदि ख अधिक है तो उसका गुणन-फल ग कम नहीं होगा। परन्तु यदि क (०) शून्य है तो ख कितना ही अधिक क्यों न हो उसका गुणन-फल शून्य ही रहेगा। इसी प्रकार यदि ख शून्य होगा तो क के बड़ा रहने पर भी गुणन-फल शून्य ही होगा। मतलब यह कि यदि किसी जाति की हीनावस्था है तो उसका कारण जानने के लिए हम देखेंगे कि उस जाति के व्यक्ति-वर्ग की स्वाभाविक वृत्तियों का ह्रास हुआ है अथवा उनके विकास के लिये उचित अवस्था का अभाव हुआ है।

मनुष्यों की कितनी ही मानसिक वृत्तियाँ—जैसे चिन्ताशक्ति, दया, साहस या स्वार्थ-परता, निष्ठुरता, विषय-लिप्सा-वंश-परम्परा से चली आती हैं। शारीरिक आकार तथा वर्ण की तरह हम उन्हें भी अपने माता-पिता से पाते हैं। कहना नहीं होगा कि योग्य माता-पिता की संतान में योग्यता प्रदर्शित होगी। प्राकृतिक निर्वाचन का फल यह है कि निम्नावस्था से भी जाति उन्नतावस्था को पहुँच जाती है। इसी प्राकृतिक निर्वाचन के कारण निर्बल आप से आप नष्ट हो जाते हैं और सबल ही जीवित रहते हैं और उन्हीं से वंश की रक्षा होती है। इसी से समाज में योग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है और पारिपार्श्विक अवस्था से संग्राम करते करते समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जाता है। सभ्यावस्था में प्राकृतिक निर्वाचन का ह्रास होने लगता है। सभ्य समाज में निर्बल और रुग्ण व्यक्तियों की भी रक्षा होती है। निर्बुद्धियों को भी आश्रय मिलता है। धन, मान आदि कृत्रिम भेदों की सृष्टि होने से प्राकृतिक निर्वाचन का द्वार ही बन्द हो जाता

है। रुग्ण, निर्बोध, पापात्मा व्यक्ति भी धनी या उच्चपदस्थ होने के कारण अपने वंश की वृद्धि करते हैं। अयोग्य व्यक्तियों की वंश वृद्धि से सभ्य-समाज में अयोग्य अयोग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है। फल यह होता है कि प्राकृतिक निर्वाचन के अभाव से जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास होता जाता है। इससे न तो उन्नति के अनुकूल स्वाभाविक वृत्ति का आविर्भाव होता है और न उनके विकास के लिए उचित अवस्था ही हो सकती है। अतएव जाति का पतन अनिवार्य है। जाति में वर्णसंकरता का दोष आ जाने से यह पतन शीघ्र हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति के उत्थान और पतन में सबसे बड़ा कारण भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सङ्घर्षण है। जब दो जातियों का पारस्परिक सङ्घर्षण होता है तब उसका फल यही होता है कि जो जाति सबल होती है वह दूसरी निर्बल जाति को दबा देती है। यदि यही सङ्घर्ष दो समान-बल जातियों में हुआ तो दीर्घ-काल-व्यापी युद्ध अवश्यम्भावी है। जातीय उन्नति पर युद्ध का बड़ा ही घातक परिणाम होता है। युद्ध में प्रायः वही लोग सम्मिलित होते हैं जो शक्ति-सम्पन्न हैं। परिणाम यह होता है कि जाति के शक्तिशाली वीरों का तो संहार युद्ध में हो जाता है और जाति की वंश-रक्षा का भार निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों पर पड़ता है जो जीवित रहते हैं। उनकी सन्तानों में शक्ति-हीनता बढ़ती जाती है और अन्त में जाति सर्वथा शक्तिहीन हो जाती है। तुर्क जाति की शक्ति के ह्रास का एक प्रधान कारण यही दीर्घ काल-व्यापी युद्ध है। ग्रीस और रोम के जातीय अधःपतन के भी यही कारण हैं। बेरी नामक एक विद्वान ने लिखा है कि रोम में युद्धों के बाद रोमनों की संख्या अत्यन्त कम हो गई थी। संख्या-वृद्धि हुई दासों की, जो युद्ध में सम्मिलित नहीं होते थे। यह संख्या इतनी कम हो गई थी कि सम्राट् आगस्टस ने जन-संख्या की वृद्धि के लिए धन देना आरम्भ किया था। सच तो यह है

कि ग्रीस, रोम, कार्थेज, मिस्र, अरब आदि सभी देशों का पतन इसी कारण से हुआ। शक्तिशाली व्यक्तियों का क्षय और निकृष्ट श्रेणी के व्यक्तियों की प्रधानता होने से जाति में दुर्बलता बढ़ती ही जायगी और उसका पतन अवश्यम्भावी है।

भारतवर्ष के इतिहास में जातीय उत्थान और पतन के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। यहाँ हम उपर्युक्त सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए भारतीय इतिहास की पर्यालोचना करेंगे।

वैदिक-युग में आर्यों से अनार्यों का सङ्घर्षण हुआ। आर्य्यों ने अनार्यों को पराजित कर पञ्जाब को स्वायत्त किया। अनार्य जातियाँ शारीरिक गठन, मानसिक वृत्त और नैतिक बल में आर्यजाति से हीन थी। इससे आर्यों का व्यवहार तीन प्रकार से हो सकता था। पहला यह कि अनार्य जाति को बिलकुल उन्मूल कर देना। चाहे इच्छा से हो अथवा अनिच्छा से, अमरीका और आस्ट्रेलिया में योरोपीय जातियों ने इसी नीति का अनुसरण किया है। दूसरा ढंग है, अन्तर्विवाह द्वारा इन दोनों जातियों का सम्मिश्रण हो जाना। मुसलमानों ने विजित जातियों से ऐसा ही सम्बंध किया था। परन्तु इससे उनमें निकृष्ट विजित जातियों के दोष आ गये और फल यह हुआ कि उनका वंश निकृष्ट हो गया। तीसरा यह कि अपने ही समाज में उनको निम्न-स्थान देकर उनकी रक्षा करना। भारतीय आर्यों ने यही किया। आर्य और अनार्य जाति में वर्णसंकरता का निवारण करने के लिए वर्णभेद की सृष्टि हुई।

पहले-पहल भारतीय आर्यों की एक ही जाति थी। क्रमशः समाज की उन्नति से उसमें श्रम-विभाग हुआ। जो समाज का उत्कृष्ट अंश था वह ज्ञान-चर्चा और शासन-कार्यों में निरत हुआ। अवशिष्ट लोग कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि में संलग्न हुए। इस प्रकार आर्य्यों में तीन वर्णों की सृष्टि हुई, किन्तु उनमें परस्पर वैवाहिक सम्बंध प्रचलित था। क्रमशः वैश्यों से ब्राह्मण और क्षत्रियों का वैवाहिक सम्बंध कम होने

लगा। परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों में यह सम्बंध बना ही रहा। रामायण और महाभारत में कितने ऐसे ऋषियों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने राज-कन्याओं का पाणि-ग्रहण किया था। उनकी सन्तान वर्ण-संकर जाति में नहीं गिनी जाती थी। परन्तु शूद्रों और द्विजों के सम्मिश्रण से जो वर्णसंकर जाति उत्पन्न होती थी वह हेय समझी जाती थी।

इसी लिए वर्ण-भेद की सृष्टि कर कृत्रिम निर्वाचन के द्वारा ब्राह्मण-वंश में पाण्डित्य, क्षत्रिय-वंश में शौर्य और वैश्य-वंश में कला-नैपुण्य की रक्षा की गई। कहना नहीं होगा कि इसी प्रथा के कारण हिन्दू-जाति विजातीय सङ्घर्षण को सह कर अब तक जीवित रह सकी है।

अब विचारणीय यह है कि हिन्दू-जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास क्यों हुआ। प्राचीन काल में उसने बड़ी उन्नति की थी, उसकी शक्ति अप्रतिहत थी, उसका वैभव अतुल था। उसने अपनी वंश-रक्षा की ओर भी ध्यान दिया। फिर उसकी अवनति क्यों हुई? बात यह है कि जो सभ्यता एकतामूलक नहीं है वह जाति-समस्या को दूर नहीं कर सकती। उससे केवल भेदों की वृद्धि होती जायगी। यह सच है कि भारत ने प्राचीन काल में उस वृहत् सत्य का आविष्कार कर लिया था जिससे सभी अनैक्यों में एकता हो जाय। यह भाव उसकी सभ्यता के मूल में था। किन्तु भारतीय सभ्यता का यह आदर्श जो एकता-मूलक था समाज में कभी प्रचलित नहीं हो सका। समाज के संरक्षण के लिए वर्ण-व्यवस्था अवश्य अनुकूल थी। परन्तु उससे जाति-भेद की समस्या दूर नहीं हो सकती। संरक्षणनीति आत्म-रक्षा के लिए उचित है, किन्तु हिन्दू-समाज को सदैव आत्म-रक्षा की चिन्ता तो थी नहीं। जब तक वाह्य सङ्घर्षण है तब तक समाज में संरक्षण-नीति सफल हो सकती है। परन्तु वाह्य सङ्घर्षण के दूर होते ही वही नीति समाज को सङ्कुचित कर देती है। अल्प-संख्यक आर्यजाति ने बहु-संख्यक अनार्य-जातियों पर अपनी उच्च शारीरिक और मानसिक शक्ति से विजय प्राप्त कर ली। उसने एक वृहत् सत्य का आविष्कार

कर उनको अपनी जाति में सम्मिलित भी कर लिया। परन्तु वर्ण-भेद बना ही रहा। फल यह हुआ कि आर्यजाति के साथ अनार्य जातियों की भी संख्या-वृद्धि होने से समाज में भेदों की संख्या बढ़ती ही गई। आर्य जाति उस वृहत् सत्य को तो भूल गई जिसमें सभी भेदों का सामञ्जस्य हो सकता है और वह भिन्नता ही पर जोर देने लगी। अतएव भारत में सङ्घर्षण सदैव विद्यमान रहा। भिन्न भिन्न युगों में कितने ही महात्माओं ने जन्म लेकर इसी भेद को दूर कर एकता स्थापित करने की चेष्टा की। परन्तु यह एकता केवल आध्यात्मिक जगत् में ही रही। व्यावहारिक जगत् में उन महात्माओं की चेष्टा से नये नये पन्थों और नई नई जातियों की ही सृष्टि हुई। भिन्न भिन्न समाजों की सृष्टि से समाज की सीमा सङ्कुचित होती गई और अत्यन्त सङ्कुचित हो जाने के कारण समाज में श्रेष्ठ शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हुआ। कहीं शक्ति का अति सञ्चय होने से उसका अपव्यय होता था तो कहीं उदीयमान शक्ति के विकास के लिए अनुकूल अवस्था ही नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि जिस वर्णव्यवस्था से हिन्दू जाति आत्म-रक्षा कर सकती थी उसी से उसकी उन्नति की गति अवरुद्ध हो गई। समाज के सङ्कुचित होने का एक दुष्परिणाम है विलासिता। विलासिता की वृद्धि तभी होती है जब किसी क्षुद्र सीमा में शक्ति का अति सञ्चय हो जाता है। पुराणों में यदु-वंश की पतन-कथा इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। महाराज यदु के श्रेष्ठ वंश का भी पतन इसी शक्ति के अति सञ्चय से हुआ। दूसरी बात यह है कि ऐसे समाज पारस्परिक विरोध पर अधिक ध्यान देते है। इसका फल सङ्घर्षण है, और पारस्परिक सङ्घर्षण के कारण शक्ति का सदैव अपव्यय होता है। इससे भी जाति की शक्ति क्षीण होती जाती है। जाति के अशक्त होने पर उसमें वर्ण-सङ्करता का दोष अवश्य आता है। यही कारण है कि महाभारत के युद्ध में अर्जुन ने अपनी जाति के भविष्य के विषय में जो आशङ्का प्रकट की थी वह ठीक ही उतरी। प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्यों अथवा गुप्तों का

साम्राज्य अस्थायी ही रहा। इसका कारण समाज-भेद, वर्ण-सङ्करता और विलासिता-वृद्धि है। मध्य-युग में मुसलमान जाति के आगमन से भारत में एक समस्या और बढ़ गई। हिन्दू-जाति ने वर्ण-व्यवस्था के कारण अपने अस्तित्व को अवश्य अक्षुण्ण रक्खा। परन्तु उसमें एक-जातीयता का भाव लुप्त हो गया। धार्मिक-सम्प्रदायों और समाज-भेदों ने उसे दासत्व में ही रक्खा। इसीसे उसने कभी जातीय भाव से प्रेरित हो उठने की प्रबल चेष्टा नहीं की। इसका कारण यही हो सकता है कि उनमें एक-जातीयता का भाव था ही नहीं। राजपूत, मरहठे और सिक्खों ने अपनी अपनी उन्नति के लिए स्वतन्त्र चेष्टायें कीं। इन्होंने उन्नति तो अवश्य की। परन्तु उनका अभ्युदय क्षण-स्थायी ही रहा। इसका कारण है सङ्कुचित सीमा में शक्ति का प्रसार। गुरु गोविन्द ने सिक्खों को एक जाति के रूप में परिणत कर अदम्य बना दिया। परन्तु उसी शक्ति से उनका पतन भी हुआ। मरहठों और राजपूतों की भी यही दशा हुई। सङ्घर्षण बना ही रहा और उसमें शक्ति का अपव्यय होता रहा।

भारत की यह जाति-समस्या अभी तक विद्यमान है। उसके विषय में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि भारत ने विधि-निषेध-द्वारा भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक संघात को दूर करने की चेष्ट की है। परन्तु इस प्रकार का अभावात्मक आयोजन दीर्घकाल तक ठहर नहीं सकता। मानव-समाज यन्त्र की तरह परिचालित नहीं हो सकता। जिन जातियों का इतिहास स्वतन्त्र है, जिनके सामाजिक और नैतिक आचारों में भिन्नता है उनका पारस्परिक सङ्घर्ष तभी बन्द हो सकता है जब एकता की भित्ति प्रेम-मूलक हो। भारतवर्ष में ऐसा भावात्मक, ऐक्य-मूलक आध्यात्मिक आदर्श है। सुप्त होने पर भी वह प्राण-हीन नहीं हुआ है। उसमें यह शक्ति है कि वह सभी वाह्य अनैक्यों को स्वीकार करके भी अन्तर्गत एकता को देखता है। भारतवर्ष के ज्ञान के कारखाने में वह सोने की कुञ्जी तैयार है जो एक दिन सभी द्वारों को खोल देगी और चिरकाल से विच्छिन्न जातियों को प्रेम के महानिमन्त्रण में सम्मिलित करेगी।

५—राष्ट्र-समस्या

संसार में आज तक कितने ही राष्ट्रों-द्वारा कितने विशाल साम्राज्य स्थापित हुए। परन्तु कुछ समय के बाद उनका आधिपत्य नष्ट हो गया। अब उनके ध्वंसावशेषों से उनके वैभव का अनुमान किया जाता है। संसार की रंगभूमि में राष्ट्रों का यह अभिनय देख कर यह प्रश्न होता है कि क्या कोई राष्ट्र चिरन्तन नहीं हो सकता। जो लोग उत्थान और पतन को प्रकृति का नियम समझते हैं उनका यह विश्वास है कि कोई भी राष्ट्र चिरकाल तक स्थित नहीं रह सकता। जिस शक्ति से कोई जाति उन्नति के शिखर पर पहुँचती है उसी से अन्त में उसका पतन होता है। जो शक्ति उद्भावनी है वही संहारिणी है। परन्तु राष्ट्रों के इस उत्थान-पतन से मानव-जाति उन्नति के पथ पर अग्रसर हुई है। भिन्न भिन्न जातियों के सङ्घर्षण से मानव-जाति की अन्तर्निहित शक्ति उद्दीप्त ही होती गई। यद्यपि यह कोई नहीं जानता कि मानव-जाति का भविष्य क्या है तथापि अतीत काल से शिक्षा ग्रहण कर मनुष्य अपने भविष्य भाग्य का निर्माण कर रहा है। यदि वह अतीत-काल के भ्रमों का संशोधन कर सका तो यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि संसार का भविष्य उज्ज्वल है। इसी दृष्टि से यहाँ हम संसार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों पर विचार करना चाहते हैं।

संसार का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जाता है—प्राचीन-काल, मध्य-युग और नवोत्थित-काल। पूर्वैतिहासिककाल में मानव-जाति की कैसी अवस्था थी, यह पुरातत्व का विषय है। जब हम ऐतिहासिक काल का निरीक्षण करते हैं तब हम सभ्यता का भव्य रूप ही देखते हैं। प्राचीनकाल में भारत, चीन, मिस्र, ग्रीस और रोम उन्नतावस्था में थे। प्राचीन-काल में जो जातियाँ असभ्य समझी जाती थीं उनका प्राबल्य मध्ययुग में हुआ। इस युग में मुसलमानों की विशेष

श्री-वृद्धि हुई। उनका पतन होने पर आधुनिक योरप का आधिपत्य बढ़ा। इन तीन युगों में तीन विभिन्न भावों की प्रधानता रही। प्राचीन युग में व्यक्तित्व की प्रधानता थी। मध्य-युग में धर्म ने राजनीति को आक्रान्त कर लिया। वर्तमान काल में व्यवसाय और राजनीति का घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि प्राचीन-युग में व्यक्ति, मध्य-युग में समाज और वर्तमान युग में राष्ट्र प्रबल हुये।

इतिहास में काल-विभाग की यह कल्पना भ्रामक हो सकती है। इसका कारण है मानव-जाति का स्वभाव-वैचित्र्य। सभी काल में भिन्न भिन्न आदर्शों में एक प्रकार का सङ्घर्षण होता रहता है। आदर्शों के इस पारस्परिक सङ्घर्षण से समाज का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। कहा जाता है कि History repeats itself अर्थात् अतीत काल की घटना वर्तमान काल में फिर अपने पूर्व रूप में आ जाती है। परन्तु इतिहास की सभी घटनाओं पर काल का प्रभाव ऐसा चिरस्थाई होता है कि कोई भी बात अपने पूर्व रूप में नहीं आ सकती। वृद्ध बालक का अभिनय कर सकता है, पर वह बालक नहीं हो सकता। मतलब यह कि मानव-स्वभाव की परिवर्तन-शीलता के कारण भिन्न भिन्न कालों में आदर्श स्थिर होते हैं। परन्तु इन पर अतीत की छाया बनी रहती है। वर्तमान युग में प्राचीन काल का आदर्श स्वीकृत हो सकता है पर परिवर्तित रूप ही में उसका अनुसरण किया जा सकता है। इसीलिये जब हम यह कहते हैं कि प्राचीन युग में व्यक्ति प्रधान था और मध्य-युग समाज, तब उसका मतलब यही है कि प्राचीन युग में व्यक्ति और समाज का सङ्घर्षण था और वह मध्य-युग में भी विद्यमान रहा। इसी प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर व्यक्ति और समाज का सङ्घर्षण लुप्त नहीं हुआ। अब सभी देशों में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में सङ्घर्षण हो रहा है।

प्राचीन युग में भारत, ग्रीस और रोम सभ्यता के केन्द्र थे।

सभी सभ्यताओं में मनुष्यों का कोई न कोई आदर्श पाया जाता है। उसी आदर्श पर उसका सामाजिक और राजनैतिक जीवन का संगठन होता है। भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा की सम्पूर्णता ही जीवन का एक-मात्र लक्ष्य थी। इस आदर्श पर समाज का विभाग भी किया गया जिससे विभिन्न परिस्थितियो में व्यक्तियों की सम्पूर्णता के लिये भिन्न भिन्न व्यवस्थाएं निश्चित कर दी गई। भारतवासियों ने व्यक्ति को प्रधानता देकर उस पर राष्ट्र और समाज का अधिकार कम कर दिया। राष्ट्र अथवा समाज व्यक्ति का प्रति बन्धक नहीं था, किन्तु उसके इष्ट-साधन मे सहायक था। राष्ट्र नियन्ता नहीं था, वह देश-रक्षा का उपाय-मात्र था। श्रम-विभाग के अनुसार राजा के हाथ में देश-रक्षा का भार सौंप गया। परन्तु राजा पर समाज अवलम्बित नहीं था। समाज की जीवन-शक्ति राजसभा में नहीं थी, किन्तु व्यक्ति-समूह में थी। यही कारण है कि हिन्दू-साम्राज्य का विध्वंश हो जाने पर भी हिन्दू-समाज छिन्न भिन्न नहीं हुआ और न उसकी चिरकालार्जित आदर्श-सम्पत्ति ही नष्ट हुई। प्राचीन भारत का वैभव उसकी पार्थिव क्षमता नहीं था, यद्यपि उसकी यह क्षमता भी खूब बढ़ी-चढ़ी थी। प्राचीन भारत का गौरव आज तक अक्षुण्ण है और यह है उसका आत्मिक विकास। उसके लिए आत्मा ही द्रष्टव्य, मन्तव्य और श्रोतव्य था। उसने दूसरे देशों मे राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा कभी नहीं की। यही नहीं, किन्तु उसने दूसरों को भी अपने वृहत समाज में मिला लिया।

भारतीय आदर्श का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि देश की राजनैतिक शक्ति राजा में केन्द्रीभूत हो गई और प्रजा भक्ति के आवेश में राजनैतिक सत्ता से उदासीन हो गई। हिन्दू-राजाओं में स्वेच्छा-चारिता का अभाव अवश्य था। इसका कारण यह नहीं है कि प्रजा उनकी राजनैतिक शक्ति में हस्तक्षेप करती थी। बात यह थी कि राजा समाज से पृथक् नहीं था, वह उसका अङ्ग था, और इसी लिए वह

लोक-मर्यादा के विरुद्ध नहीं चल सकता था। जब कभी किसी राजा ने राजनीति के केन्द्र से बाहर आकर समाज पर आघात किया तभी उसका विरोध किया गया। भारतीय इतिहास में प्रजा-विद्रोह का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें प्रजा ने राजा की राजनैतिक सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया हो। मुसलमानों के शासन-काल में भी हिन्दू-प्रजा अपनी अवस्था से सन्तुष्ट थी। वर्तमान युग में जो अशान्ति फैली है उसका कारण यह है कि राजनीति का आदर्श ही परिवर्तित हो गया है और वर्तमान युग के लिए अभी तक ऐसा आदर्श निश्चित नहीं हुआ है जो इस विश्व-व्यापी अशान्ति को दूर कर सके। अस्तु।

ग्रीस में राष्ट्रीय कर्म-क्षेत्र में ही समाज की प्रकृति जीवनी-शक्ति थी। कहा गया है कि ग्रीस की सभ्यता का जन्म नगरों में हुआ था। अतएव ग्रीस का प्रत्येक नगर एक राष्ट्र हो गया था और इसी को पुष्ट करना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य था। ग्रीस में राष्ट्र से पृथक् व्यक्ति-गत स्वतन्त्र जीवन नहीं था। आधुनिक योरप में अभी तक इसी आदर्श का किसी न किसी रूप में अनुसरण किया जाता है। इसी आदर्श ने व्यक्ति और राष्ट्र में विरोध उत्पन्न किया। देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि सभी लोग एक ही उद्देश्य से उसके लिए प्रयत्न करें। परन्तु उसके लिए व्यक्ति के आत्मिक विकास का बलिदान नही किया जा सकता। ग्रीस की अवनति का प्रधान कारण था उसकी नैतिक और आत्मिक उन्नति की असम्पूर्णता। ग्रीस को आध्यात्मिक उन्नति उसकी पार्थिक उन्नति की उपेक्षा हीन ही रही। इसीलिए जब व्यक्ति से राष्ट्र का सम्बन्ध घटने लगा तब ग्रीस के जातीय जीवन में शिथिलता आने लगी और अन्त में व्यक्ति-गत स्वातन्त्र्य के विकास से ग्रीस की सभ्यता का भी लोप हो गया।

रोम ने ग्रीस के नागरिक राज्यों को नष्ट कर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। रोम की राजनैतिक सत्ता में जन-समूह का प्रभाव था। तो भी वहाँ व्यक्ति-विशेष की प्रभुता अक्षुण्ण रही। जब रोम ने

संसार के अधिकांश भाग को स्वायत्त कर लिया तब उसका पार्थिक वैभव खूब बढ़ गया। इस वैभव पर रोम के जन-समूह का भी अधिकार हो गया। समाज के एक क्षुद्रांश में जब सम्पत्ति केन्द्रीभूत हो जाती है तब उसका कितना विषमय फल होता है, यह रोम के इतिहास से सिद्ध है। रोम के सर्व-साधारण अपनी आर्थिक उन्नति और क्षमता के कारण मदोन्मत्त हो गये थे। उनकी पाशव-प्रवृत्ति और दुराचार का वर्णन पढ़ कर घृणा होने लगती है। यह सच है कि रोम ने प्रजासत्तात्मक राज्य का जन्म दिया। उसने विद्या और विज्ञान की भी उन्नति की। परन्तु उसकी विजय-लालसा और क्षमता-वृद्धि से तत्कालीन समाज ने लाभ नहीं उठाया, परवर्ती समाज ने उससे शिक्षा अवश्य ग्रहण की। ईसाई धर्म में सांसारिक वैभव का तिरस्कार किया गया है और क्षमता के स्थान में प्रेम और सहनशीलता का आदर है। इसी धर्म ने योरप की सभ्यता का नवीन रूप दिखलाया। तब राजनीति और समाज में धर्म का प्रभुत्व स्थापित हुआ। यही मध्ययुग का प्रारम्भकाल है। शासक और शासित-वर्ग, राजा और प्रजा, दोनों के लिए समाज ने एक मर्यादा निश्चित कर दी। पोप की शक्ति का प्रधान कारण यही था कि वह लोक-मर्यादा का संरक्षक समझा जाता था। योरप इसे पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि समझता था। पोप के व्यक्तित्व पर कोई शक्ति आरोपित नहीं की गई थी। शक्ति समाज की थी और पोप उसका प्रतिनिधि था। योरप में जो स्थान पोप का था मुसलमान-साम्राज्य में वही स्थान ख़लीफ़ा को दिया गया था। पर ख़लीफ़ा मुसलमानों की राजनीति और धर्म दोनों का परिचालक था। यद्यपि वर्तमान युग में ख़लीफ़ा का वह राजनैतिक प्रभुत्व नहीं रहा जो पहले था तो भी धर्म में उसका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा।

मध्य-युग में मुसलमानों की ख़ूब श्री-वृद्धि हुई। सातवीं शताब्दी में मुहम्मद ने अपना मत चलाया। जिन जातियों में पहले सङ्गठन के अभाव से शक्ति नहीं थी उन्हें धर्म के सूत्र में बद्ध कर मुहम्मद ने संसार

की सर्व-श्रेष्ठ जाति में परिणत कर दिया। मध्ययुग में मुसलमानों ने ही सर्वत्र विद्या और विज्ञान का प्रचार किया।

मुसलमानों की उन्नति का सब से बड़ा कारण यह है कि उन्होंने धर्म को राजनीति से पृथक् नहीं किया। बग़दाद का ख़लीफ़ा मुसलमान साम्राज्य का अधिपति था और वही उनके धर्म का आचार्य था। धार्मिक मुसलमान राजनैतिक शक्ति की कामना से युद्ध नहीं करता था, किन्तु वह सत्य के प्रचार के लिए अपना बलि-दान करता था। मध्ययुग की किसी दूसरी जाति में धार्मिक भावों की यह प्रबलता नहीं थी। यह सच है कि मुसलमानों के साथ जब ईसा-धर्मावलम्बियों का युद्ध हुआ तब पोप की प्रार्थना पर सभी ईसाई सम्राट सम्मिलित हुए। परन्तु सब सम्राटों का एक लक्ष्य कभी न हुआ। आत्म-रक्षा के लिए अपने समान-शत्रु के विरुद्ध कुछ लोग कुछ समय के लिए एकता स्थापित कर सकते हैं, पर ऐसी एकता चिरस्थायी नहीं हो सकती। ईसाई सम्राटों को धर्म-रक्षा से अधिक अपने देश की रक्षा का ध्यान था। वे जानते थे कि ईसाई मत की उन्नति से उनके देश की उन्नति नहीं होगी और न उसकी अवनति से उनके देश का पतन ही होगा। पोप का धार्मिक प्रभुत्व नष्ट हो जाने पर फ्रांस और इग्लैंड अधःपतित नहीं हुए। परन्तु मुसलमानों का लक्ष्य दूसरा था। ख़लीफ़ा की उन्नति से उनकी उन्नति थी और उसकी अवनति से उनका पतन था। जब संसार में व्यक्ति और समाज का संघर्षण था तब मुसलमानों में यह प्रश्न उठा ही नहीं। यही उनकी उन्नति का प्रधान कारण था और यही उनके पतन का मुख्य कारण हुआ। मुसलमानों का यह धार्मिक भाव एक क्षुद्र सीमा में ही प्रबल हो सकता है। जल में पत्थर फेंकने से जो लहर उठती है वह बढ़ती जाती है। पर ज्यों ज्यों वह बढ़ती है त्यों त्यों उसकी शक्ति क्षीण होती जाती है। यही हाल मुसलमानों की धर्म-शक्ति का था। जब उनका प्रसार ख़ूब हो गया तब उनकी यह शक्ति बिलकुल क्षीण होगई। जो भावना अल्पसंख्यक लोगों में विभक्ति

होकर तीव्र हो गई थी वह बहुसंख्यक मनुष्यों में फैलकर मानों निस्तेज होगई। देशों के व्यवधान ने मुसलमानों के धार्मिक भावों को दूर कर दिया और उन्हें भी धर्म की अपेक्षा देश रक्षा का ध्यान अधिक होने लगा। देश-रक्षा के लिए प्रजा-वर्ग की सहयोगिता चाहिए। मुसलमानों की धार्मिक भावना ने जहाँ जहाँ राजा और प्रजा में एक व्यवधान खड़ा कर दिया था वहाँ उनका आधिपत्य नष्ट हो गया। जहाँ राजा और प्रजा में किसी प्रकार का धार्मिक व्यवधान नहीं था, जहाँ एक ही समाज का प्राबल्य था, वहाँ मुसलमानों का आधिपत्य आज तक विद्यमान है।

रोम-साम्राज्य के अधःपतन होने पर भिन्न भिन्न देशों के राजाओं की शक्ति बढ़ गई। सभी राजा अपने स्वार्थ साधन की चेष्टा करने लगे। सभी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे, पर यह कोई नहीं चाहता था कि किसी एक की शक्ति सबसे अधिक हो जाय। इसी लिए राजाओं में बल-साम्य का आदर्श निश्चित हुआ। सन्धि द्वारा कुछ नरेश मिल कर अपने पक्ष को पुष्ट करने लगे। इसी समय योरप में नव-युग स्थापित हुआ। मध्य युग के बाद सर्वसाधारण में विद्या और विज्ञान का प्रचार होने से जो जागृति हुई उससे समाज में राजनैतिक जागृति भी हुई। समाज का राजनीति से और राजनीति का व्यवसाय से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। पहले तो राजा और प्रजा में राजनैतिक सत्ता के लिए बड़ा विरोध हुआ। पर अन्त में राज्य पर राष्ट्र का ही प्रभुत्व स्थापित हुआ। राष्ट्र की प्रभुता का कारण था उसकी व्यवसाय-वृद्धि। इसका परिणाम यह हुआ कि अब राष्ट्रों के पारस्परिक विग्रह में उसी राष्ट्र की विजय हो सकती है जो सब से अधिक समृद्धि-शाली हो।

वर्तमान युग में योरप का ही व्यवसाय सब से अधिक उन्नत है। अमरीका और जापान की शक्ति का भी प्रधान कारण है उनका व्यवसाय। व्यवसाय के क्षेत्र में छोटे बड़े सभी राष्ट्र एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं।

संसार के व्यवसाय को स्वायत्त करने के लिए अभी तक कई महायुद्ध हो चुके हैं। आधुनिक योरप का इतिहास एक व्यावसायिक युद्ध से आरम्भ हुआ है। गत योरपीय महासमर का भी कारण यही प्रतियोगिता है। अपनी समृद्धि के लिए अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सम्पत्ति हड़प जाने में ज़रा भी संकोच नहीं करता। परन्तु राजनैतिक सत्ता से ही यह सम्भव नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्य सब से अधिक शक्तिशाली है। परन्तु व्यवसाय के क्षेत्र में वह अद्वितीय नहीं है।

अब प्रश्न यह होता है कि यह राष्ट्र है क्या? क्या यह सजीव व्यक्तियों का समुदाय है अथवा सिर्फ़ एक निर्जीव विचार मात्र है जिसका अस्तित्व केवल राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में है। जब यह कहा जाता है कि किसी देश की सम्पत्ति इतनी है तब अर्थशास्त्र के विद्वान अङ्क-गणित के द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि उक्त देश के प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति इतनी है। परन्तु क्या राष्ट्र की सम्पत्ति पर प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार है? क्या राष्ट्र की उन्नति होने पर प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर मिलता है? बात यह कि थोड़े ही योग्य मनुष्यों में राष्ट्र की शकित और सम्पत्ति विभक्त हो गई है। वर्तमान अशान्ति का सब से बड़ा कारण यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिए क्षेत्र चाहता है।

आज तक सार्वभौम शान्ति स्थापित करने के लिए बड़े बड़े उद्योग किये गये। परन्तु सब निष्फल हुए। स्वतन्त्रता और समानता की ख़ूब दुहाई दी गई। परन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। कुछ विद्वानों की यह सम्मति थी कि व्यवसाय के कारण अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर इतना अवलम्बित हो गया है कि एक के हानि से दूसरे की भी हानि है। एक विद्वान ने तो यहाँ तक कहा था कि संसार की वर्तमान व्यावसायिक स्थिति से युद्ध हो असम्भव है, युद्ध से विजेता को लाभ नहीं। तो भी युद्ध हुआ और अभी तक युद्ध हो ही रहा है। बात यह है कि जब तक मनुष्य मनुष्यत्व का आदर नहीं करेगा तब तक संसार

में युद्ध होता ही रहेगा। वसुधा एक कुटुम्ब तभी हो सकती है जब मनुष्य मनुष्य से स्नेह रक्खेगा। आधुनिक सभ्यता ने मनुष्यों का मनुष्यत्व नष्ट कर दिया है। मानव-समाज एक बड़ा भारी यन्त्र हो गया है जिसे अपने कल-पुर्जों की परवा नहीं। वह सभ्यता का ताना बाना बुन रहा है परन्तु वह स्वयं यह नहीं जानता कि वह उसका क्या उपयोग करेगा।

कितने ही विद्वानों ने भविष्य संसार के लिए विश्व-साम्राज्य की कल्पना की है जहाँ एक भाषा, एक धर्म और एक भाव की प्रधानता रहने पर भी मनुष्यों का पारस्परिक सङ्घर्षण बन्द नहीं होगा। जब तक राष्ट्र और व्यक्ति का एक ही उद्देश न होगा तब तक अशान्ति बनी रहेगी।

पञ्चरात्र

(१)

सन्ध्या हो गई थी। मैं 'इण्डिन प्रेस' से काम करके घर लौटा। महेश और रमेश दोनों बैठे बातें कर रहे थे। मेरे आने पर लाल साहब भी वहीं आकर बैठ गये और महेश से कहने लगे—"मैं आज एक उपन्यास पढ़ रहा था, वह है तो एक विख्यात लेखक की कृति, पर उसे पढ़ कर मुझे विशेष प्रसन्नता नहीं हुई, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आधुनिक कथा-साहित्य रस से हीन होता जा रहा है। आजकल उपन्यासों में चरित्रों की सृष्टि के लिये उतनी चिन्ता नहीं की जाती जितनी चरित्र गत विशेषता का विश्लेषण करने के लिए की जाती है।" महेश ने कहा—"पर सत्य के अनुसंधान में ही आनंद की उपलब्धि होती है और चरित्र-वैचित्र्य का विश्लेषण करने से ही हम सत्य को जान सकते हैं।" रमेश ने कहा—"यही तुम भूल कर रहे हो। मनुष्य-जीवन कोई रसायनिक पदार्थ नहीं है, जिसका विश्लेषण कर तुम तत्त्व निकाल सको। मनुष्य को खंड खंड कर देखने से हम कभी उसके जीवन का रहस्य नहीं जान सकते। वह जैसा है, हमें ठीक वैसा ही समग्र भाव से ही, उस पर विचार करना चाहिए। जहाँ जीवन की सम्पूर्णता है, वहीं दृष्टिपात करने से हम जीवन का यथार्थ तत्त्व जान सकेंगे। इसीलिए प्राचीन काल में महत् चरित्रों की सृष्टि की जाती थी। पर आज कल उपन्यासों में व्यक्तिगत वैचित्र्य को ही स्पष्ट करने के लिए यत्न किया जाता है।"

लाल साहब ने कहा—"संसार में छोटे बड़े सभी तरह के मनुष्य रहते हैं, वे सदैव महत्त्वपूर्ण कार्यों में निरत नहीं रहते। अधिकांश का जीवन-काल ऐसे ही कार्यों में व्यतीत होता है, जो तुच्छ कहे जाते हैं।

मनुष्य अपने जीवन में सुख-दुख का अनुभव करता है। कभी वह किसी से प्रेम करता है तो कभी किसी से घृणा करता है। काम

क्रोध, मद लोभ, मोह के चक्र में वह पड़ा रहता है। मनुष्यों का यह दैनिक जीवन क्या उपेक्षणीय है? रमेश ने उत्तर दिया—"तुच्छ कार्यों में निरत रहने पर भी मनुष्य इतना अवश्य अनुभव करता है कि उसका जीवन उतना ही नहीं है; उसके हृदय में यह विश्वास छिपा रहता है कि वह कुछ और भी है। उस 'कुछ और' को प्राप्त करने के लिये वह चेष्टा भी करता है। इसीलिए जब वह किसी प्रकार की महत्ता देखता है, तब उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह शक्ति की महत्ता को समझता है, इसी लिए वह शक्ति का अनुभव करना चाहता है। तभी मनुष्यों में शक्ति के जो जो प्रतिनिधि होते हैं, वे सभी उसकी कल्पना के विषय हो जाते हैं। यह सच है कि सभी समय में मनुष्य किसी एक में ही शक्ति की पराकाष्ठा या महत्ता का आदर्श नहीं देखता। उसका यह आदर्श बदलता रहता है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि महत् भाव की ओर मनुष्यों को अग्रसर कराने के लिये ही साहित्य की सृष्टि होती है। यदि साहित्य में केवल चरित्रगत विशेषताओं का ही विश्लेषण किया गया तो उससे हम लोगों में कोई महत् भाव नहीं आ सकता।" महेश ने कहा—"कथाओं के प्रति मनुष्य-मात्र का जो अनुराग है, उसका कारण यह है कि एक मनुष्य स्वभावतः दूसरे को जानना चाहता है। पहले उसे कौतूहल होता है, फिर सहानुभूति। असाधारणता से केवल कौतूहल का उद्दीपन होता है, परन्तु सहानुभूति के लिये साधारण बातें ही चाहिये। इसीलिए जिन कथाओं में असाधारण, विस्मयकर घटनाओं का विवरण होता है, उनसे पाठकों का विनोद भले ही हो, पर उनसे उनके हृदय में सहानुभूति का भाव जाग्रत नहीं हो सकता। सच तो यह है कि मनुष्य के चरित्र में जहाँ दुर्बलता है, वहीं हम लोगों की सहानुभूति उत्पन्न होती है। महत्ता से केवल विस्मय, आतंक या भक्ति आदि भावों का उद्रेक भले ही हो, परन्तु पाठक उस महत्ता को अपना नहीं सकता। इसीलिए जो उच्चकोटि के लेखक हैं वे अपने पाठकों को असाधारण घटनाओं

के फेर में नहीं डालना चाहते वे उन्हें अपने प्रतिदिन के सुख-दुख की बातें बतलाते हैं। उन्हीं से पाठकों की सहानुभूति जाग्रत होती है। अच्छे लेखकों की रचनाओं का सबसे अच्छा लक्षण यह है कि उन्हें पढ़ते समय हम तन्मय हो जाते हैं। सत्य सदैव सरल सुन्दर और असाधारण होता है। अतएव जिनकी रचनाओं में सत्य की सरल और सुन्दर छबि रहती है, उन्हीं के प्रति हमारा अनुराग होता है। जो लोग कथाओं से केवल कौतूहलोद्दीपन चाहते हैं, उनके लिए सत्य के ये सरल चित्र चित्ताकर्षक नहीं होते। परन्तु पाठकों के हृदय पर ऐसे ही चित्रों का प्रभाव पड़ता है।"

रमेश ने कहा—"जब जाति की शक्ति क्षीण होने लगती है तभी वह महत्ता की ओर अग्रसर नहीं होती और तभी वह महत्ता में असाधारणता का अनुभव करती है। जब किसी जाति का उत्थान होता है तब उसमें एक दैवी भक्ति-सी आ जाती है और तब वह असाधारणता की प्राप्ति के लिये उत्सुक होती है, साधारण बातें उसको बिलकुल तुच्छ जान पड़ती हैं। सच तो यह है कि इसी कारण से साहित्य का स्वरूप परिवर्तित होता है। भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मानव-समाज के उत्थान-पतन के साथ उसके आदर्श भी उच्चकोटि अथवा निम्न कोटि के होते हैं। वाल्मीकि और व्यास के युग में साहित्य का जो आदर्श था, वह कालिदास के युग में न रहा, और न कालिदास का आदर्श मुगल-काल में रह सका। आधुनिक युग में दूसरे ही आदर्श ग्रहण किये जाते हैं। इसका एक-मात्र कारण यही है कि हिन्दू-जाति भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अतिक्रमण करती आई है। कथाओं में मानव-जीवन की चिरन्तन घटनाएँ और उनकी उच्च अभिलाषाएँ छिपी रहती हैं। सच तो यह है कि इन्हीं कथाओं के द्वारा हम किसी भी जाति की जीवन-धारा की गति निर्दिष्ट कर सकते हैं। प्राचीन काल में सभी देशों के साहित्य में विराट भावों की प्रधानता देखते हैं ये विराट भाव जाति में तभी प्रचलित हुए थे, जब उसमें

विजय के लिए असीम उत्साह था। प्राचीन काल में राजा ही मानवीय शक्ति का प्रतिनिधि होता था, वही जाति का गौरव स्थल था, अतएव वही जाति का आदर्श था। इसीलिए सभी देशों के प्राचीन साहित्य में राजा का ही वर्णन है। राजा को आदर्श मानकर मनुष्यों ने उसी में अपनी समस्त इच्छाओं का चरम परिणाम देखना चाहा। ये राजा सबसे अधिक रूपवान हैं। उनमें शक्ति भी असाधारण है। मनुष्यों में जो सर्वोच्च गुण हो सकते हैं, उन सब का वह आगार है। यह सब कुछ होने पर भी इन कथाओं में किसी भी राजा का जीवन सुख-मय नहीं है। बात यह है कि सुख और विलास उन्नति शील जाति के लिए तुच्छ हैं। वह जानती है कि उन्नति के मार्ग पर कितने ही विघ्न और बाधाएँ हैं, कितने ही संकट और विपत्तियाँ हैं। उन्हीं सब का अति-क्रमण करने पर जाति उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचती है। इसीलिए प्राचीन कथाओं के सभी नायकों को विपत्तियों का सामना करना पड़ा है। उनके शत्रु भी विकट थे परन्तु अंत में उन्होंने सभी शत्रुओं को पराभूत कर दिया। संकट में ये नायक कभी धैर्य्यच्युत नहीं हुए, प्रलो-भन में पड़कर कभी उनकी मति भ्रष्ट नहीं हुई। जब तक किसी जाति का साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ तब तक उसमें ऐसे ही आदर्श प्रचलित रहे। आधुनिक युग में एक ओर संशयावस्था है और दूसरी ओर विलास प्रियता। जो विज्ञान पहले प्रकृति के रहस्य-द्वार का उद्घाटन करने के लिये प्रयत्नशील था, वह अब मानव जाति की विलास-सामग्री ढूँढ़ने में तत्पर है। न जाति में वह अदम्य उत्साह है और न वह प्रबल शक्ति। इसीलिये विराट चरित्रों की सृष्टि लोगों को असाधारण जान पड़ती है। मार्लो और शेक्स पियर के नाटकों में इग्लैंड के विजयोल्लास और दर्प के चित्र हैं, परन्तु आधुनिक नाटकों में समाज की हीनावस्था के ही चित्र अंकित होते हैं।"

महेश ने कहा—"तुमने जो कहा वह केवल सत्यांश है, सम्पूर्ण

सत्य नहीं। मनुष्यों को अपने जीवन के आरम्भ काल में ही अपने पुरुषार्थ से एक अलक्षित शक्ति से युद्ध करना पड़ा। पद-पद पर उसने उस अलक्षित शक्ति का अनुभव किया। जब उसने प्रकृति की सारी शक्ति को वशीभूत कर निर्जन वन में विशाल नगरी स्थापित करली— ऐसी नगरी, जहाँ वर्षा के अट्टहास और तडित के उग्र विलास में भी वह निःशंक होकर आत्म-विनोद करता था ग्रीष्म के प्रचंड उत्ताप में वह निर्भय होकर विहार करता था तब भी उस अलक्षित शक्ति के सम्मुख उसे नतमस्तक होना पड़ा। पुराणों में तारकासुर की कथा मनुष्य-जाति के इसी पराभव की सूचना देती है। तारकासुर ने समस्त देवों को परास्त कर अपने राज्य भवन में उनको दास बना कर छोड़ा था। उसकी आज्ञा के विपरीत न तो वायु चल सकती थी, न सूर्य प्रकाश दे सकता था, और न इन्द्र वर्षा कर सकता था। परन्तु उसे भी उस दुर्जय शत्रु से हार खानी पड़ी उसी शक्ति से वह पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने अंत में उसका संहार कर डाला। पुराणों में जो कथाएँ वर्णित हैं, उन सब का लक्ष्य एक मात्र यही है कि मनुष्य एक अलक्षित शक्ति के सर्वथा वशीभूत है। उसका सारा पुरुषार्थ उसके आगे व्यर्थ हो जाता है। वही उसका भाग्य है, वही उसकी नियति है। एक कथा में यह कहा गया है कि हिरण्यकश्यप ने तपस्या द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न कर यह वर मांगा कि वह देव, मनुष्य और पशु तीनों के लिए अवध्य हो। जल और स्थल पर न मारा जा सके, दिन और रात्रि में उसकी मृत्यु न हो। इस प्रकार वर माँग कर मानो वह उस अलक्षित शत्रु को भी परास्त कर देना चाहता था। परन्तु नियति ने उसका उपहास करके उसे उससे मरवाया जो न मनुष्य था, न देव था, न पशु था। था वह नृसिंह। न जल पर उसकी मृत्यु हुई, न स्थल पर। मृत्यु हुई उसकी नृसिंह के अंक पर। वह न दिन में मरा न रात में, उसकी मृत्यु हुई संध्या में। सभ्यता के आदि काल में सभी देशों के मनुष्यों ने उस अलंघनीय, अदम्य, दुर्जेय शक्ति का अनुभव किया।

ग्रीक साहित्य का आदिकाव्य 'इलियड' तो केवल नियति की ही कथा है। उसमें मनुष्यों की प्रचंड शक्ति, अदम्य उत्साह सभी कुछ वर्णित है। परन्तु उन सबके अंत में ट्रॉय की निर्जन समर-भूमि में एक मात्र नियति अट्टहास करती हुई दिखाई देती है और चारों ओर मनुष्यों का हाहाकार ही सुनाई पड़ता है। प्राचीन युग में मनुष्य-जाति को वाह्य प्रकृति से विशेष प्रतिरुद्ध होना पड़ा। जब तक उसने अपनी अन्तरात्मा की महत्ता न देखी, तब तक वह प्रकृति से पराभूत होने पर अदृश्य शक्ति की महिमा को स्वीकार करती रही। परन्तु जब उसने अपनी अन्तःशक्ति का अनुभव कर लिया तब वाह्य-प्रकृति की शक्ति उसे तुच्छ मालूम होने लगी। धर्म की महिमा से महीयान् मध्ययुग के संतों ने अन्तरात्मा की विभूति का दर्शन करा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में अदृष्टवाद की जगह धर्म की अलौकिकता ने प्रधानता प्राप्त कर ली। यह संभव है कि वह शक्ति सांसारिक शक्ति के द्वारा पराभूत हो जाय, परन्तु उसकी महिमा सांसारिक महिमा को अतिक्रमण कर एक अलौकिक जगत में अपनी अचल महिमा स्थापित करती थी। इसी प्रकार उस शक्ति का पराभव कभी संभव न था। वह सत्य की शक्ति थी, वह धर्म की शक्ति थी। किन्तु उसका विकास केवल महान् आत्माओं में संभव था, इसी लिए मध्ययुग की कथाओं में महान् आत्माओं की गाथाएँ हैं सर्व-साधारण की नहीं। आधुनिक युग में मनुष्य-मात्र में उसी शक्ति का अनुभव कर कवियों ने साधारण मनुष्य को ही अपनी रचनाओं में नायक का स्थान प्रदान किया है। नीच हो या शूद्र, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसके अन्तजर्गत में उस ज्योतिर्मयी-शक्ति की लीला न दिखाई पड़ती हो। साधारण मनुष्य के दैनिक जीवन में भी उनके साधारण सुख-दुख और पाप-पुण्य के क्रिया कलापों में भी जीवन की एक सम्पूर्णता है, जिससे समस्त विश्व में एक ही भाव, एक ही शक्ति, एक ही सत्ता का अस्तित्व प्रमाणित होता है।"

मैंने कहा, "आधुनिक साहित्य में विराट चरित्रों की अथवा महत् भावों की प्रधानता क्या संभव ही नहीं है ? तुम लोगों के विवाद से तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कवि केवल अपने युग की एक वस्तुमात्र है मानो उसकी कोई स्वतंत्र इच्छा-शक्ति है ही नहीं। मेरी समझ में तो जिनमें प्रतिभा है वे मौलिक चरित्रों की सृष्टि अवश्य करते हैं। वाल्मीकि हों या होमर, कालिदास हों या शेक्सपियर, स्काट हों या बंकिमचंद्र, चरित्रों की सृष्टि में ही उनका विशेष कर्तृत्व प्रकट होता है। यदि प्राचीन काल के कवियों में प्रतिभा थी, तो आधुनिक काल के कवियों में प्रतिभा का अभाव नहीं हो गया है। मैं तो यह समझता हूँ कि आधुनिक उपन्यासों का रहस्य जानने के लिये हमें प्राचीन कथाओं का अनुसन्धान नहीं करना पड़ेगा। आधुनिक साहित्य में कथाओं का एक दूसरा ही स्वरूप हो गया है उनका स्थान भी उच्च हो गया है। सच तो यह है कि प्राचीन काल में महाकाव्यों का जो स्थान था, उसे अब आधुनिक उपन्यासों ने ले लिया है। प्राचीन महाकाव्यों और उपन्यासों में जो भेद है, वह केवल रूप का भेद है। लक्ष्य दोनों का एक ही है। यह सच है कि महाकाव्यों में जिन बातों का समावेश होता था, उनको अब कोई भी उपन्यासकार अपने उपन्यास में स्थान नहीं दे सकता। यदि वह ऐसा करे तो उसकी कथा का रस ही नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार यदि महाकाव्यों में उन बातों को स्थान दिया जावे, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन उपन्यासकार किया करते हैं तो उस महाकाव्य का कोई महत्त्व ही नहीं रह जायगा। बात यह है कि विषय महत् होने पर भी उपन्यासकार की कला के साधन कुछ दूसरे ही होते हैं। अतएव यह कहना चाहिये कि प्राचीन काल से लेकर आज तक आप लोगों ने जिस वस्तु का विकास बताया है, वह केवल रूप का विकास है—वस्तु का विकास नहीं। रूप के लिये हम दूसरों का आश्रय ग्रहण करते हैं। परन्तु वस्तु हम लोगों की अनुभूति का फल है। वाल्मीकि ने रामचरित का वर्णन किया है और तुलसीदास तथा केशव-

दास ने भी रामचन्द्र की कथाएँ लिखी हैं। विषय एक है, रूप भी एक है, क्योंकि तीनों ने महाकाव्य ही लिखे हैं। परन्तु भेद उनमें प्रत्यक्ष है। और उसका एक मात्र कारण है उनकी पृथक् पृथक् अनुभूति।"

महेश ने कहा—आप एक दूसरी ही बात की चर्चा करते हैं और हम लोगों का विवाद कुछ और ही था। परन्तु आपके इस कथन के विरुद्ध भी मैं कुछ कहना चाहता हूँ। साहित्य में कार्य-कारण का नियम उतना ही व्यापक है, जितना वाह्य जगत् में। संसार में जब कोई कार्य होता है, तब उसका एक कारण भी होता है। साहित्य में सहसा किसी ग्रन्थ की सृष्टि नहीं हो जाती। कवि शून्यता से सामग्री नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिये एक विशेष वाह्य-स्थिति की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि जब तक उसके लिए समाज प्रस्तुत नहीं है, तब तक वह प्रकट भी नहीं होता। जो भावनाएँ कवि के काव्य की उपजीव्य हैं, वे समाज में पहले से प्रचलित हो जाती हैं। यदि तुलसीदास के पहले भक्ति की भावना प्रबल न होती तो रामचरितमानस की सृष्टि भी न होती। सृष्टि होती तो ऐसे महाकाव्य की जो किरातार्जुनीय का दूसरा रूप होता। यह भक्ति-भावना भी किसी कारण का परिणाम है। वह कारण क्या है, यह जानने के लिये हमें तत्कालीन और उसके पूर्ववर्ती इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी। इतिहास और साहित्य से विशेष संबंध है। साहित्य से इतिहास स्पष्ट होता है और इतिहास से साहित्य। विद्वानों ने अब यह समझ लिया है कि साहित्य केवल कल्पना का क्रीड़ास्थल नहीं है और न वह उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि मात्र है। वह अपने काल के मानसिक विकास का चित्र है। हम लोगों के विवाद का मुख्य विषय यह विकास ही था। प्राचीन काल, मध्य-युग और आधुनिक युग में किन किन भावों की प्रधानता होने के कारण साहित्य में किस किस आदर्श की सृष्टि हुई और उन आदर्शों के द्वारा जाति की कितनी उन्नति या अवनति हुई, अभी हम लोगों के विवाद का विषय यही था।

मैंने कहा—पर वर्त्तमान साहित्य की एक विशेषता उसका आदर्श भी है। वर्त्तमान साहित्य का आदर्श है उन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को हल करना, जिसके कारण सर्वत्र अशांति फैली हुई है। आधुनिक साहित्य में तीन प्रकार के आदर्श स्वीकृत हुए हैं—रियलिस्ट, आइडियलिस्ट, और रोमेण्टिस्ट। संसार में जो घटनाएँ प्रतिदिन होती हैं, उनका यथार्थ चित्रण करना रियलिस्ट कला-कोविदों का काम है। ऐसे लेखकों की रचना पढ़ते समय यही जान पड़ता है कि मानो हमने स्वयं यह दृश्य कहीं देखा है। यही नहीं, किन्तु उसके पात्रों में हम अपने परिचित व्यक्तियों के जीवन का सा दृश्य देख लेते हैं। आइडियलिस्ट लेखक एक आदर्श चरित्र के उद्घाटन की चेष्टा करते हैं। ससार की दैनिक घटनाओं में वे ऐसे भावों का समावेश करते हैं कि उनसे एक अपूर्व चित्र खिल उठता है। वह चित्र पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालता है। पाठक अपने अनुभव द्वारा कवि के आदर्श की उच्चता को स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे लेखक सत्य का बहिष्कार नहीं करते। वे संसार की दैनिक घटनाओं ही से अपनी कथा के लिये सामग्री का संग्रह करते हैं। परन्तु उनकी कृतियों में घटनाओं का ऐसा विन्यास किया जाता है कि उनमें कुछ भी अलौकिकता या असाधारणता ज्ञात नहीं होती। पाठकों के मनमें यही बात उदित होती है कि ऐसा हमने देखा तो नहीं है, पर देखना अवश्य चाहते हैं। रोमेण्टिक साहित्य कल्पना की सृष्टि है। उसमें साधारण घटनाओं में भी एक असाधारणता का अनुभव कराया जाता है। आधुनिक साहित्य में इन तीनों आदर्शों का समावेश हो रहा है। मेरी समझ में यह मानना भ्रमपूर्ण है कि आधुनिक साहित्य में रियलिज्म की ही ही प्रधानता है। आधुनिक साहित्य का मुख्य उद्देश्य यही जान पड़ता है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की रक्षा करके समाज के साथ उसका नैसर्गिक, यथार्थ संबंध स्थापित कर दिया जाय। जो कृत्रिम, अश्रेयस्कर व्यवधान हैं वे नष्ट कर दिये जायँ। इसी से आधुनिक साहित्य

में वर्त्तमान काल की सभ्यता के अंधकारमय भाग पर पर्दा डालकर छिपाने की चेष्टा नहीं की जाती और उसी के साथ यह बात भी प्रकट कर दी जाती है कि वह किस प्रकार ज्योतिर्मय हो सकता है।

महेश ने कहा—मैं भी यही कहना चाहता हूँ, आधुनिक साहित्य में मैं किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। यह सच है कि पहिले जैसे विराट चरित्रों की सृष्टि होती थी वैसी सृष्टि अब नहीं होती। पर आज कल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह देश-काल में आबद्ध होकर वे संकीर्ण विचारों में नहीं रहे हैं। उनमें यथेष्ट स्वतंत्रता आ गई है पहले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमें प्रेम, घृणा आदि भावों का जैसा संघर्षण होता था, वही लीला हम शेक्सपियर आदि की रचनाओं में देखते हैं। परन्तु अब यह बात नहीं है। आज कल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिये हमें रोमियो-जूलियट अथवा एण्टानीक्लिओपेट्रा की सृष्टि करनी नहीं होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आज कल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही साथ एक सौंदर्य वृत्ति है, जिसमें समाज बोध और आध्यात्म बोध का मिश्रण हो गया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा आथेलो के समान सरल नहीं है। वह बड़ा जटिल हो गया है। क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट नामक उपन्यास में विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि उसके पात्रों में जहाँ एक ओर नीच प्रवृत्ति है, वहाँ दूसरी ओर दिव्य भावों की प्रधानता है। जार्ज मेरेडिथ के दी 'ईगोइस्ट' का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका और न उसके साथी ही। उपन्यास भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवीन्द्र बाबू के 'घर बाहर' नामक उपन्यास में सन्दीप के चरित्र में भी वही जटिलता है। सच तो यह है कि आधुनिक उपन्यासों के कितने ही प्रसिद्ध नायकों के चरित्र ऐसे अंकित किये गये हैं कि जब हम उनके संस्कारों

के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तब तो हमें उनके चरित्र में हीनता दिखाई देती है पर सत्य की ओर लक्ष्य रखकर देखने से यही कहना पड़ता है कि उनमें उज्ज्वलता भी है। वर्तमान युग परीक्षा का युग है। आधुनिक साहित्य में रस और तत्त्व का अपूर्व सम्मिलन तो हो गया है। सच्ची बात यह है, रमेश बाबू, कि अतीत का सिर्फ गौरव ही अवशिष्ट रहता है। जो क्षुद्रता होती है, उसे काल नष्ट कर देता है। इसी से अतीत से तुलना करने पर हमें वर्तमान गौरव-पूर्ण प्रतीत नहीं होता। सत्य से घबड़ा कर कल्पना के विलास-विभ्रम का आश्रय मत लीजिये।

लाल साहब ने कहा—आप का कहना सर्वथा उचित है। कल्पना द्वारा कम से कम उदर-पूर्ति की संभावना नहीं है। और मेरे लिये सबसे आवश्यक यही है। बख्शी जी, आप देख तो आइए कि अब कितनी देर है। अगर अधिक देर हो तो कल्याण का आश्रय लेकर हम लोग क्षुधा कुछ देर और रोक रक्खें।

लाल साहब ने इस प्रकार उस दिन विवाद का अन्त कर दिया।

सन्ध्या हो गई थी। आकाश मेघाच्छन्न था। मेघों की श्याम-घटा देखने से यही जान पड़ता था कि अब वर्षा होने ही पर है। रमेश बाबू खिड़की के पास खड़े होकर अन्यमनस्क भाव से आकाश की ओर ताक रहे थे। महेश बाबू मुँह में चुरुट दबाये 'टाइम्स आफ इण्डिया' के पन्ने उलट रहे थे और मैं एक हिंदी मासिक-पत्र में किसी नवीन लेखक की एक प्रेम-कथा पढ़ रहा था। इतने में रमेश बाबू धीरे-धीरे गुनगुनाने लगे।

'जब सुहावनी घटा देखकर सुखी अनमने हो जाते।'

रमेश बाबू के मुँह का गुनगुनाना सुनते ही मैंने कहा—रमेश बाबू जान पड़ता है कि मेघ लोक से आपकी भी चित्त-वृत्ति अन्यथा हो गई।

रमेश बाबू ने कहा—बिलकुल सच। इस परिवर्तन-शील संसार में यही तो एक ऐसा दृश्य है जो हम लोगों को एक कल्पित यक्ष-लोक में खींच ले जाता है, जहाँ जन्म मृत्यु का चक्र नहीं जहाँ अवस्थाओं का का उत्थान-पतन नहीं जहाँ चिरवैभव, चिर-यौवन और चिर-नवीनता है। कालिदास ने न जाने कब 'मेघदूत' लिखा, पर मेघ प्रतिवर्ष हम लोगों के लिये यही सन्देश लाता है, हम लोगों के हृदय में वही अतृप्ति वही आकांक्षा, यही उद्दाम वासना जाग्रत करता है। कवि किसी भी युग और किसी भी देश का क्यों, न हो पर उसके भाव तो सभी देशों और सभी युगों को आक्रान्त कर देते हैं।

महेश बाबू ने कहा—जो सत्य है वह तो स्वयं किसी देश और काल से बद्ध नहीं है, पर वह देश और काल के ही भीतर प्रकट होता है। कवि भी देश और काल की सीमा में बद्ध है। 'मेघदूत' का रसास्वादन करने के लिये हमें कालिदास के युग की कल्पना करनी पड़ती है। हमें उसी युग में जाकर रहना पड़ता है। वैभव और विलास के कल्पित

लोक में जाकर हमें क्षण भर के लिये अपनी वर्तमान दीन-हीन स्थिति भूल जानी पड़ती है। नहीं तो दुर्भिक्ष पीड़ित लोगों का आर्त्तनाद सुन कर हमें मेघदूत के विलास वर्णन से अरुचि हो जायगी।

रमेश बाबू ने कहा—महेश बाबू, आप मनुष्य को केवल शरीर ही समझते हैं। आप यह नहीं ख़याल करते कि उसके पास मन नाम की एक वस्तु है जो शरीर से बहुत ऊँची है। शरीर के लिये जैसे कुछ आवश्यक वस्तुएँ हैं वैसे ही मन के लिए भी कुछ वस्तुओं की आवश्यकता होती है। मन का एक दूसरा ही जगत् है। कवि उसी मानसिक जगत् में विचरण करता है।

महेश बाबू बोले—अर्थात् कल्पना द्वारा यथार्थ स्थिति को भूलकर, यथार्थ सत्य पर दृष्टिपात न कर, एक अलौकिक जगत् में चला जाता है। यही तो मैं भी कहता हूँ रमेश बाबू। पर सत्य की परीक्षा के लिये हमें उसी कल्पित लोक को विच्छिन्न कर देखना पड़ेगा। तभी हम समाज की यथार्थ अवस्था जान सकेंगे। वर्षा का उल्लास देखने के बाद हमें कीचड़ से भरे हुए रास्तों में भी चलना पड़ता है।

रमेश ने कुछ चिढ़कर कहा—आप तो दूसरी ही बात पर विवाद करने लगे। हम लोगों में केवल क्षुधा नहीं सौन्दर्य-भाव भी तो है। कवि उसी सौंदर्य का उपासक होता है और सौंदर्य चिर-नवीन और चिरन्तन होता है।

महेश बाबू ने कहा—जो सत्य है वही सुन्दर है। जो कवि है, जो द्रष्टा है, वह सत्य का ही उपासक है। साहित्य में कभी जो एक आदर्श निश्चित हो जाता है, सौंदर्य की जो एक निश्चित सीमा बन जाती है जिसके साथ हमारी भावना संकुचित हो जाती है, वह साहित्य के पतन-काल का सूचक है। यही कारण है कि साहित्य में सदैव आदर्श परिवर्तित होते रहते हैं।

रमेश बाबू ने कहा—जो कवि है वह अपने लिये स्वयं एक पथ निश्चित करता है, वह अपने लिए स्वयं एक आदर्श निर्मित करता है।

कवि का वह आदर्श उसके व्यक्तित्व का सूचक है। मानव-समाज उसे ग्रहण करे या न करे, इससे उसको कुछ प्रयोजन नहीं।

मैंने कहा—पर साहित्य का स्वरूप तो सदा परिवर्तित होता रहता है। भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मनुष्य-जीवन में हम जो वैचित्र्य और जटिलता देखते हैं, वही हमें साहित्य में पाती है। मानव-समाज के साथ-साथ उसका भी उत्थान-पतन होता रहता है। साहित्य-मानव जीवन से सम्बद्ध है।

रमेश ने कहा—परन्तु इसका तो यह मतलब है कि जब कोई जाति अवनत दशा में है, तब उसका साहित्य भी अवनत हो। किन्तु प्रायः देखा जाता है कि जाति के अधः पतित होने पर भी उसमें श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है, और जब जाति गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाती है, तब उसका साहित्य श्री-हत हो जाता है। किसी-किसी का शायद यह ख्याल है कि जब देश में शान्ति विराजती है, तभी सत्साहित्य का निर्माण होता है। पर साहित्य के इतिहास में हम देखते हैं कि युद्ध-काल में भी जब एक जाति वैभव की आकांक्षा से उद्दीप्त होकर नर-शोणित के लिये लोलुप हो जाती है, तब उसमें दैवी-शक्ति-सम्पन्न कवि जन्म ग्रहण करते हैं।

मैंने पूछा—तब आपकी राय में साहित्य के उद्भव का कारण क्या है ? क्या कवि की उत्पत्ति आकाश में विद्युत की भाँति एक आकस्मिक घटना है ? क्या देश और समाज के प्रतिकूल साहित्य की सृष्टि होती है ? क्या कवि देश और काल की अपेक्षा नहीं करता ? अथवा क्या देश और काल के अनुसार ही साहित्य की रचना होती है ?

महेश ने कहा—साहित्य में वैचित्र्य है। परन्तु उस वैचित्र्य में भी साम्य है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर बहे चाहे समतल भूमि पर उसकी धारा विच्छिन्न नहीं होती। साहित्य का स्रोत भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अविच्छिन्न ही बना रहता है। उदाहरण के लिये हम हिंदी-साहित्य की विचार-धारा पर ध्यान

देते हैं। महाकवि चन्द से लेकर आज तक जितने कवि हुए हैं, सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण किया। विचार-वैचित्र्य के अनुसार हिन्दी-काव्यों के चार स्थूल विभाग किये जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य के आदि काल में वीर-पूजा का भाव प्रधान था, उसके बाद आध्यात्मवाद की प्रधानता हुई, फिर भक्त कवि उत्पन्न हुए, तदनन्तर शृंगार-रस की उत्कृष्ट कविताएँ निर्मित हुईं। यह सब होने पर हिन्दी-साहित्य में हम एक विचार-धारा देख सकते हैं। जिस भावना के उद्रेक से चन्द कवि ने अपने महाकाव्य की रचना की, वह सूर और बिहारी की भी रचनाओं में विद्यमान है। वह है हिंदू जाति का अधः पतन। महाकवि चन्द ने अपनी आँखों से हिन्दू-साम्राज्य का विनाश देखा। उन्होंने उसकी गौरव रक्षा के लिये अपने काव्य का विशाल मंदिर खड़ा कर दिया। कबीर ने अपनी वचनावली में भारत की सामाजिक दशा का ही चित्र अंकित किया है। सूरदास के पदों में भी वही हाहाकार है। बिहारी के विलास-वर्णन में भी विषाद है। वसंत-ऋतु के अतीत गौरव का स्मरण कर उसी के पुनरुद्भव की आशा में उनका मन अटका रहा। भूषण के वीर-रसात्मक कार्यों में भी शौर्य के स्थान में शस्त्रों की व्यर्थ झनकार ही सुनते हैं। पद्माकर ने निर्वाणोन्मुख दीप-शिखा की भाँति 'हिम्मत-बहादुर' की गुणावली का गान किया है। कहाँ तक कहें हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में भी हम दुर्भिक्ष-पीड़ित भारत का चीत्कार ही सुनते हैं। दासत्व-बंधन में जकड़े और विजेताओं द्वारा पददलित हिन्दू साहित्य में अन्य किसी भाव की प्रधानता हो भी कैसे सकती है ?

मैंने कहा—यदि आपकी विवेचना ठीक है, तो हम कह सकते हैं कि साहित्य का मुख्य विचार-स्रोत समाज का अनुगमन करना है। रमेश ने कहा—परन्तु समाज की दीनता पर साहित्य की हीनता नहीं अवलंबित है। अपनी हीनावस्था में भी हिंदू जाति ने ऐसे कवि उत्पन्न किये हैं, जो किसी भी समृद्धिशाली जाति का गौरव बढ़ा सकते

हैं। सूर, तुलसी और बिहारी ने शक्तिहीन हिन्दू जाति में ही जन्म ग्रहण किया था परन्तु उनकी रचनायें सदैव आदरणीय रहेंगी। सच तो यह है कि जब कोई जाति वैभव सम्पन्न हो जाती है, तब उसके साहित्य का ह्रास होने लगता है। पार्थिव-वैभव से कविता कला का कम संबंध है। वैभव की उन्नति से जब किसी जाति में स्थिरता आ जाती है, तब साहित्य की अवनति होती है। यह नियम पृथ्वी की सभी जातियों के संबंध में, सभी कालों में सत्य है।

महेश ने कहा—कितने ही विद्वानों का विश्वास है कि जब मनुष्य प्रकृति के सौंदर्य विकास से मुग्ध हो जाता है, तब वह अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इसी सौंदर्य-लिप्सा से साहित्य की सृष्टि होती है और कला का विकास। परन्तु इस सिद्धांन्त के विरुद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तब तो उसकी सौंदर्यानुभूति और सौंदर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता, उलटे उसकी वृद्धि ही होती है। तब ऐसी अवस्था में, साहित्य और कला की खूब उन्नति होनी चाहिये। परन्तु, फल विपरीत होता है। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलीन हो जाता है और कला श्री-हत। जर्मनी के नृ-तत्त्व-विशारदों का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है, वह प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। नवीनता की अनुभूति से विस्मय प्रकट होता है।

रमेश ने कहा—जीवतत्व-विशारद बिरचाउ (Birchow) ने मनुष्य के विस्मयोद्रेक का यही कारण बताया है। परन्तु उन्होंने कहा है कि विस्मय से भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है और यही भाव साहित्य का मूल है। यह भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, अथवा यह कहना चाहिये कि इस भाव में दो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। पहिली भावना है जिगीषा

अर्थात् यह सोचना कि हम प्राकृतिक शक्तियों को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त करलेंगे और तब इस विस्मयागार पर हमारा अधिकार हो जायगा दूसरी भावना है तन्मयता अर्थात् यह सोचना कि हम इस रूप-सागर मे निमग्न होकर नित्य—नवीनता को प्राप्त कर लेंगे। पहली भावना से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। दूसरी भावना से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं, जो काव्य और साहित्य के मूल हैं। देश, काल पात्र के अनुसार और भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से वे भावनाएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हैं। उन्हीं से साहित्य का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है।

मैंने कहा—आपके कथन से यह मालूम होता है कि साहित्य के दो प्रधान भेद हैं—एक साहित्य,दूसरा कला। इनके मूल-गत भाव भिन्न-भिन्न हैं। इनका विकास भी एक ही रीति से नहीं होता। विज्ञान पर वाह्य जगत् का प्रभाव खूब पड़ता है और कला पर अन्तर्जगत् का। धार्मिक आन्दोलन से कला का स्वरूप अवश्य परिवर्तित होता है। उसी प्रकार वाह्य समृद्धि की आकांक्षा से विज्ञान की गति तीव्रतर होती है। बौद्ध-युग मे जब कवित्व-कला का अभाव हुआ, तब विज्ञान की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ। आधुनिक युग में भी विज्ञान की उन्नति से कविता का ह्रास हुआ है।

रमेश ने कहा—साहित्य के विकास में हमें एक दूसरी बात पर ध्यान देना चाहिये। वह यह कि कला में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, और विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता लक्षित नहीं होती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की हैं। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धांत निर्मित किया है। न्यूटन के आविष्कार से विज्ञान को बड़ा लाभ पहुँचा है। संसार न्यूटन का सदा कृतज्ञ रहेगा। परन्तु यह सभी स्वीकार करेंगे कि अब ज्ञान की उन्नति से वह स्वयं उतना महत्व नहीं रखता। पर शेक्सपियर की रचना के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती।

अपनी प्रतिभा के बल से उसने जो साहित्य तैयार किया, उसका महत्त्व कभी घटने का नहीं ।

महेश ने कहा—विज्ञान की उन्नति से साधारण नियमों की वृद्धि होती है । प्रकृति की रहस्यमयी मूर्ति वैसे ही नियमों से स्पष्ट होती है। सच पूछो तो विज्ञान साधारण नियमों का समूह-मात्र है । परन्तु कला कोई नियम नहीं ढूँढ़ निकालती । कला जीवन की प्रकाशिका कही गई है । अतएव जीवन वैचित्र्य के कारण, कला का वैचित्र्य सदैव रहेगा । वैचित्र्य के अभाव से कला का ह्रास होता है। मनुष्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी, और जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा, तब कला में भी सरलता आने लगेगी । सभ्यता के आदि काल में मानव-जीवन बहुत सरल होता है । अतएव तत्कालीन साहित्य और कला में सरलता रहती है । तब न तो शब्दोंका आडम्बर रहता है और न अलंकारों का चमत्कार । उस समय कला का क्षेत्र भी परिमित रहता है। उसमें रूप रहेगा, परन्तु रूप-वैचित्र्य नहीं । ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों मनुष्य-जीवन जटिल होता जाता है, साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। इस तरह जिस जाति का जीवन जितना ही विशाल होगा, उसकी कला भी उतनी ही अधिक उन्नत होगी, और उसका आदर्श भी उतना ही विशाल होगा ।

रमेश ने कहा--साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एक मात्र कारण यही है कि मनुष्य अपने जीवन में सम्पूर्णता को उपलब्ध करना चाहता है—वह उसी में तन्मय होना चाहता है । परन्तु, सम्पूर्णता है कहाँ ? वाह्य प्रकृति में तो है नही । यदि वाह्य जगत् में ही मनुष्य सम्पूर्णता को, पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती । वह संपूर्णता कवि के कल्पना लोक में शिल्पी के मनोराज्य में है । वहीं जीवन का पूर्णरूप प्रकाशित होता है । वहीं यथार्थ में हम सौंदर्य देखते हैं । उसी के प्रकाश में जब हम संसार को देखते हैं,

तब मुग्ध हो जाते हैं। एक कवि ने कहा है कि जो प्रकाश जल या स्थल में कहीं भी नहीं है, वह पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में रहता है।

महेश ने कहा—कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ठ संबंध है। मानव-जीवन से पृथक् कर देने पर कला का महत्त्व नहीं रहता। पर्सी ब्राउन नाम के एक विद्वान का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-सृष्टि की चेष्टा मानव-जाति की उत्पत्ति के साथ ही है। शिक्षा और सभ्यता के साथ सौंदर्यानुभूति का उन्मेष और विकास होता है। कविता, संगीत और चित्रकला के नमूने कंदराओं में रहने वाली जातियों में भी पाये जाते हैं। अपनी सौंदर्यानुभूति को व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला का मूल है।

मैंने कहा—कला की उन्नति तभी होती है, जब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य रहता है। जब मनुष्य को यथेष्ट सुखोपभोग की स्वतंत्रता रहती है, जब उसे अपने हृद्गत भावों को दबाने की जरूरत नहीं रहती, तभी वह इस सौंदर्य-सृष्टि के लिये चेष्टा करता है।

महेश ने कहा—आपका खयाल है कि जब देश में सर्वत्र शान्ति रहती है तभी कला की उन्नति होती है। मैं समझता हूँ जब तक समाज में शान्ति रहती है तब तक कला की उन्नति होती ही नहीं। इसके विपरीत जब समाज क्षुब्ध होता है, जब मनुष्य अपने हृदय में अशान्ति का अनुभव करने लगते हैं, जब देश में युद्ध होने लगता है, तब कला उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। जिगीषा का भाव मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करता है। शान्ति के समय वह अपने ज्ञान का विस्तार कर सकता है परन्तु नवीन सृष्टि नहीं कर सकता। विजय की इच्छा उसको नवीन रचना के लिये उत्साहित करती है। यही कारण है कि ग्रीस में युद्ध और अन्तर्विप्लव-काल में ही कला की उन्नति हुई। योरप में गोथिक कला का भी विकास इसी तरह हुआ। यदि युद्धकाल उपस्थित न होता, तो कदाचित् योरप में पुनरुत्थान-काल (रेनेसांस पीरियड) भी न आता। युद्ध की इच्छा से

चित्त-वृत्ति में स्वतंत्रता आ जाती है; और कला की उन्नति के लिये स्वतंत्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृंखला से बँधी होती है, उसकी चित्त वृत्ति का स्वातंत्र्य नष्ट हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति कुंठित हो जाती है विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह प्रकृति के उपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव को प्रतिष्ठित कर उसे किस प्रकार अधिक सुन्दर करे। यही नहीं वह सौंदर्य-विकास के साथ अनन्त और अजेय को भी अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

प्रकृति के सौंदर्य के भीतर जो अनन्त रूप विद्यमान हैं उसे धर्म ही, विश्वास और कल्पना के द्वारा, मनुष्य के लिये अनुभवगम्य कर देता है। प्रात: काल सूर्योदय की शोभा देख कर मनुष्य मुग्ध हो सकता है परन्तु उसका वह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की लालिमा है, तभी तक वह मोह है। परन्तु धर्म उसको बतलाता है कि इस प्रात:कालीन[1] लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्" तब वह सौंदर्य भावना स्थायी हो जाती है। यदि समाज में धर्म का और धर्म में सौंदर्य का भाव है, तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

मैंने कहा—भारतवर्ष में जब तक व्यक्तिगत स्वातंत्र्य था, धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई। स्वतंत्रता के लुप्त हो जाने पर भारतवासियों ने अपने धर्म की भावना से कला की रक्षा की। परन्तु अब स्वाधीनता और धार्मिक भावना खोकर वे अपनी कला भी खो बैठे।

महेश ने कहा—मनुष्य ने संसार में जो अपना सम्बंध स्थापित किया है, वह उसके धार्मिक विश्वासों से प्रकट होता है। ज्यों ज्यों

---

[1] जो सूर्य भी अधिक श्रेष्ठ, तेजस्वी हैं।

उसके धार्मिक विश्वास परिवर्त्तित होते जाते हैं त्यों-त्यों संसार से उसका सम्बंध भी बदलता जाता है। धार्मिक-विश्वास में शिथिलता आने से उसका सांसारिक जीवन भी शिथिल होता जाता है, और उसकी यह शिथिलता उसके सभी कृत्यों में दिखाई देती है। साहित्य में मनुष्यों के धार्मिक परिवर्त्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उससे साहित्य का स्वरूप भी बदल जाता है। धर्म से साहित्य का अच्छेद्य सम्बंध है। डाक्टर बीचर नाम के एक विद्वान ने एक बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक धर्म होता है। ईसाई धर्मावलंबी योरोप के सभी सभ्यदेशों की भाषा का धर्म ईसाई मत का ही अवलंबन करता है। वहां ईसाई धर्म ही प्रत्येक देश और जाति की विशेषता को ग्रहण कर साहित्य में विद्यमान है। इस मत का समर्थन कितने ही विद्वानों ने किया है। अब यह सर्वसम्मत सिद्धांत हो गया है कि जिस जाति का जो धर्म है, उस जाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्म के अनुकूल होगा। इतना ही नहीं भाषा के प्रत्येक शब्द, रचना, शैली, अलंकार के समावेश और इसके विकास में भी उसी धर्म की ध्वनि श्रुतिगोचर होगी। साहित्य से धर्म पृथक् नहीं किया जा सकता चाहे जिस काल का साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ही चित्र अंकित होगा।

मैंने कहा—हिन्दू साहित्य में धर्म के तीन स्वरूप लक्षित होते हैं। प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिन्दू साहित्य के आदि काल में धर्म की प्राकृतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ, और जब भारतीय समाज में उत्क्रांति हुई, तब साहित्य में नवोत्थान-काल, उपस्थित होने पर, आध्यात्मिक-भावों की प्रधानता हुई।

महेश ने कहा—धर्म की पहिली अवस्था में प्रकृति की ही ओर हमारा लक्ष्य रहता है। तब हम वाह्य जगत् में ही रहते हैं। उस समय हमारी साधना का केन्द्र-स्थल प्रकृति में ही स्थापित होता है। इस अवस्था में भी तन्मयता की ओर भारतीय कवियों का लक्ष्य रहता है। सभी देशों के

प्राचीन साहित्य में प्रकृति की उपासना विद्यमान है। प्राचीन ग्रीक–साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को दिव्य स्वरूप देकर उनका यशोगान किया गया है। परन्तु उसमें हिन्दू-जाति जैसी तन्मयता नहीं है।

हिन्दुओं के मतानुसार कला के तीन आदर्श हो सकते हैं। जिससे केवल प्राण रक्षा हो वह तामसिक है। जब कला अपने ऐश्वर्य और शक्ति के द्वारा समस्त समाज पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, और केवल सौंदर्य की सृष्टि की ओर उसका लक्ष्य रहता है, तब वह राजसिक होती है। सात्त्विक कला में अनन्त के लिये सान्त की व्याकुलता रहती है। तब मनुष्य प्रकृति को जड़ नहीं समझता। वह उसको अपने जीवन में ग्रहण करना चाहता है; उसको रस-रूप में परिणत करना चाहता है। प्रकृति के सातिवक उपासकों के लिये प्रकृति दयामयी और प्रेममयी रहती है। उससे मनुष्य का सम्बंध केवल ज्ञान द्वारा स्थाप्रित नहीं होता। यथार्थ सम्बंध-सूत्र प्रेम होता है। ग्रीक साहित्य में जिन देवों की सृष्टि की गई है वे मानव-जाति से सर्वथा पृथक् थे। परन्तु हिन्दू देवता मानव जाति से घनिष्ठ संबंध रखते थे। वैदिक ऋषियों ने विश्व के प्रति जैसी प्रीति प्रकट की है उससे यही मालूम होता है कि स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी ही उनके लिये अधिक सत्य थी। एक स्थान पर पृथ्वी को सम्बोधन करके उन्होने कहा है—"हे पृथ्वी, तेरे पहाड़, तेरे तुषारावृत्त पर्वत, तेरे अरण्य हमारे लिये सुखकर हों।" दूसरे स्थान में उन्होंने कहा है—"भूमि हमारी माता है, और हम पृथ्वी के पुत्र।" फिर लिखा है—'हे माता भूमि, तेरा ग्रीष्म, तेरी वर्षा, तेरा शरद, हेमंत, शिशिर और वसत, तेरा सुविन्यस्त ऋतु-संवत्सर, तेरे दिन और रात्रि तेरे वक्षस्थल की दुग्धधारा के समान रक्षित हों।' इन उद्‌गारों से विश्व प्रकृति के साथ उन का साहचर्य प्रकट होता है।

रमेश ने कहा—सभ्यता के विकास से प्रकृति के साथ वह घनिष्ठता नहीं बनी रहती। मनुष्य जब क्रमशः इन्द्रियों से, मनसे, कल्पना से, और भक्ति से वाह्य प्रकृति का संसर्ग-लाभ कर लेता है, तब वह

उसके परिचय की अंतिम अवधि तक पहुँच जाता है। तब एक-मात्र प्रकृति ही उसका आश्रय नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूप में वह सदैव अस्थिरता देखता है। प्रकृति के शक्ति-पुञ्ज में भी वह सम्पूर्णता नहीं उपलब्ध कर सकता। इससे उसको संतोष नहीं होता। फिर वह देखता है कि जिस चैतन्य शक्ति का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह उसके अन्तर्जगत् में भी विद्यमान् है। अतएव अब उसका लक्ष्य अन्तर्जगत् हो जाता है। वह प्रकृति के स्थान में मनुष्य-समाज को ग्रहण करता है। यही धर्म की नैतिक अवस्था है। यह अवस्था उपस्थित होने पर कवियों ने मानव-जीवन में सौंदर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है।। उन्होंने राम अथवा कृष्ण, सीता अथवा सावित्री के चरित्र में एक विचित्र प्रकार के सौंदर्य का अनुभव किया। तब उन्होंने देखा कि वाह्य जगत् में सौंदर्य का पूर्ण विकास नहीं होता। जहाँ जीवन का प्रकाश पूर्णमात्रा में विद्यमान है, वहीं यथार्थ सौंदर्य है। अतएव कला का लक्ष्य मुख्यतः जीवन ही है और निर्मलता ही सौंदर्य है। पवित्र स्वभाव अधिक मनमोहक है। रमणी मूर्त्ति में मातृ-मूर्त्ति अधिक चित्त आकृष्ट करती है। पुरुषों में शौर्य, दया और दाक्षिण्य अधिक आदरणीय हैं। अतः मनुष्य को इन्हीं गुणों की पराकाष्ठा दिखलाने के लिये आदर्श-चरित्रों की सृष्टि होने लगी। प्रकृति को अंत में गौण स्थान मिल गया है। यदि वह है, तो मनुष्य के लिए। कुछ ने तो उसे मायाविनी समझ कर सर्वथा त्याज्य समझ लिया है।

महेश ने कहा—मानव-चरित्र के विश्लेषण में कवियों और साधकों ने ज्यों ज्यों चरित्र-महत्ता देखी, त्यों-त्यों उन्होंने अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि यदि इस शक्ति का पूर्ण विकास हो जाय तो मनुष्य देवोपम हो जाता है। राम कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्रों में उन्होंने एक ऐसी महत्ता देखी जो संसार में अतुलनीय थी। तब ये ही उनकी उपासना केन्द्र हो गये। आज कल हम लोगो के लिये ये चरित्र अतीत काल के हो गये हैं।

परन्तु मध्य युग के कवि और कला-कोविद इनका प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। हमारे कवियों और साधकों के विषय में जो दन्त कथाएँ प्रचलित हैं उनमें यही बात कही जाती है कि उन्होंने साक्षात भगवान् को प्राप्त किया। यह मिथ्या नहीं है। यदि तुलसीदास और सूरदास अपने अन्तःकरण में राम और कृष्ण का दर्शन न करते तो उनकी रचनाओं में वह शक्ति न रहती जो कि है। दाँते ने स्वर्ग और नरक का ऐसा वर्णन किया है मानो उसने सचमुच वहाँ की यात्रा की हो। उसके वर्णन में एक भी बात नहीं छूटने पाई। प्रत्यक्ष दर्शन न सही, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम अवश्य है।

क्रमशः राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्र आध्यात्मिक जगत् में लीन हो गये। संसार से पृथक् होकर उन्होंने भाव-जगत् में अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया, जो सौंदर्य और प्रेम की धारा उनके चरित्रों से उद्गत हुई थी, वह मानव समाज में फैलकर विस्तृत हो गई। कबीर, चैतन्य, दादू, मीरा बाई आदि सन्त कवियों ने अन्तर्निहित सौंदर्य-राशि को प्रकट करने की चेष्टा की। उनकी आध्यात्मिक भावना का यह परिणाम हुआ कि अब प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्जगत् के रहस्योद्-घाटन करने का प्रयत्न किया जाता है।

रमेश ने कहा—ऑस्कर वाइल्डने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि वाह्य सौंदर्य उसको कितना ही मुग्ध क्यों न करे, वह सौंदर्य के पीछे एकात्म्य देखना चाहता है। संसार को जो सौंदर्य आप्लावित किये है, वह किसी एक ही स्थान में आबद्ध नहीं रह सकता। नीच और उच्च का भेद उसके लिए नहीं है। इसीलिये सभी स्थानों में उसकी खोज की जाती है। एक प्रसिद्ध विद्वान् का कथन है कि यदि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से हो सके, यदि हम स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग प्राप्त कर सकें तो कला का रहस्य जान लें। तब हम अपनी आत्मा के गंभीरतम स्थल में अपने अन्तर्जगत् के संगीत सुन लें। यह संगीत कभी आनन्दमय, कभी विषादपूर्ण परन्तु

सर्वदा नवीन ही बना रहता है। यह हमारे चारों ओर व्याप्त है। हमारे भीतर भी है। परन्तु हम इसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। हमारे और विश्वप्रकृति के बीच, हमारे चैतन्य के बीच; एक परदा पड़ा हुआ है। आध्यात्मिक कवि उस परदे के भीतर अन्तर्गत रहस्य को देख सकते हैं। परंतु सर्वसाधारण के लिए वह पर्दा रुकावट है। आधुनिक साहित्य में जिस आध्यात्मवाद की धारा बह रही है उसकी गति इसी ओर है। वह मनुष्य-मात्र के चरित्र का विश्लेषण कर उसमें आत्मा का सौंदर्य देखना चाहता है। यही भाव अब नव हिंदू-साहित्य में भी प्रविष्ट हो रहा है। जड़वाद के स्थान में आत्मचिंता और आत्मपरीक्षा के द्वारा यदि मनुष्य अन्तः सौंदर्य का दर्शन कर सके तो यह उसके लिये श्रेयस्कर ही है क्योंकि तभी वह पुनः शान्ति के पथ पर अग्रसर होगा।

मैंने कहा—तथास्तु।

एक दिन रमेश ने एक हिन्दी मासिक पत्र के कुछ पन्ने इधर उधर उलट कर मुझ से कहा—मैं देखता हूँ कि आज कल हिन्दी-साहित्य की अच्छी वृद्धि हो रही है।

मैंने कहा—हिंदी-साहित्य की वृद्धि अवश्य हो रही है। परन्तु विद्वानों की राय है कि यह वृद्धि गुण-गरिमा की नहीं, संख्या की हो रही है। आज कल पत्रों और मालाओं के साथ लेखकों की वृद्धि हो रही है। पत्रों और ग्रन्थ-मालाओं की संख्या-वृद्धि से यह तो सिद्ध हो जाता है कि हिंदी साहित्य के प्रति लोगों का अनुराग बढ़ रहा है। परन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनसे साहित्य की सचमुच कुछ उन्नति हो रही है।

महेश ने कहा—प्रतिभाशाली लेखक सभी देशों में दुर्लभ होते हैं। उनसे साहित्य की गौरव-वृद्धि अवश्य होती है, परन्तु उनके अभाव से यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य की अवनति हो रही है। आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब साहित्य का द्वार छोटे बड़े सभी लोगों के लिये खुल गया है। पहले कालिदास के समान कवि विद्वानों के परितोष में कला की सार्थकता देखते थे। उस समय साहित्य पर विद्वानों का ही आधिपत्य था। आज कल साहित्य पर सर्वसाधारण का अधिकार है। सामयिक पत्र लोक-शिक्षा और लोक रंजन के सब से अच्छे साधन हैं।

मैंने कहा—पर अब हिंदी साहित्य पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव बढ़ रहा है।

महेश ने कहा—यह तो स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सकता, परन्तु विचारणीय यह है कि पाश्चात्य प्रभाव से हमारे जातीय आदर्शों का लोप हो

रहा है या नहीं, वह सचमुच हानिकर है या नहीं। मैं जानता हूँ कि आप जैसे कुछ हिन्दी के समालोचक इसका विरोध करते हैं। पर आप लोग साहित्य के 'कलेवर' पर जितना ध्यान देते हैं उतना उसकी 'आत्मा' पर नहीं देते। आप लोग पाश्चात्य प्रभाव पर बड़ा आक्षेप करते हैं। पर जब हम आपके इस पाश्चात्य प्रभाव का विश्लेषण करने बैठते हैं, तब हमें प्रकट हो जाता है कि पाश्चात्य प्रभाव से आपका तात्पर्य केवल साहित्य के वाह्य रूप से है। साहित्य के वाह्य स्वरूप में परिवर्त्तन होने से कोई हानि नहीं है। उसके लिये झगड़ा करना भी व्यर्थ है। यह परिवर्त्तन होता ही रहता है। हमें विचार यह करना है कि साहित्य में किन भावों के प्रचार से समाज की हानि होती है।

मैंने कहा—हिंदी की आख्यायिकाओं में प्रेम की जो विकट लीला हम देख रहे हैं और कविताओं में छायावाद के नाम से जो प्याले ढाले जा रहे हैं और दीवानी चोटों में जो सर्वस्व खोया जा रहा है उसका मूल कहाँ है? क्या ये सब पाश्चात्य भाव नहीं हैं?

रमेश ने कहा—जो श्रेष्ठ कवि कहे जा सकते हैं वे प्राच्य हों या पाश्चात्य, उनकी रचनाओं से किसी भी देश की हानि नहीं हो सकती। अथवा उनके आदर्शों को स्वीकार करने से अथवा उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलने से हानि नहीं हो सकती। हिन्दी में जो भावुकता भिन्न भिन्न वादों के नाम से फैल रही है उसका मूल पाश्चात्य देशों का ही आदर्श नहीं है। यह भावुकता प्रेम विह्वलता या अज्ञात विरह वेदना उन लोगों ने सस्ते साहित्य से ही सीखी हैं। यह साहित्य सभी देशों में सुलभ है। इससे समाज की एक कृत्रिम अवस्था सूचित होती है। ग्राम्य गीतों से इन वस्तुओं की तुलना करने पर यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि किनमें भावों की कृत्रिमता है और किनमें सरलता, और किनसे सर्व-साधारण का मनोरंजन हो सकता है। यह साहित्य विशेष रसिकों में ही परिमित है। पर यदि ये लोग अपनी ज्ञान-गरिमा का भार सर्वसाधारण से भी उठाना चाहते हों या अपनी परिष्कृत रुचि

का प्रचार सर्वसाधारण में करना चाहते हों तो उन्हें यह जान लेना चाहिये कि उन्हें अपने कार्य में सफलता नहीं हो सकती। मासिक पत्रों में ऐसी रचनाओं का बाहुल्य है। पर अधिकांश लोग उन्हें केवल कौतूहल की दृष्टि से देखते हैं। कुछ लोगों को तो विरक्ति सी हो गई है। बात यह है कि अभी तक जनसाधारण की अवस्था इतनी विकृत नहीं है।

मैंने कहा—ठीक है; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि शिक्षित नवयुवकों की रुचि में विकार आ गये हैं। हिन्दी के आधुनिक कथा-साहित्य में अधिकांश कहानियाँ और कविताएँ ऐसी निकल रही हैं जिनका संबंध सर्वसाधारण से बिलकुल नहीं है, पर वे अधिकांश नवयुवकों के लिये उद्वेगजनक होने के कारण उन्हीं में विशेष लोक-प्रिय हो रही हैं। सर्व-साधारण के तद्गत भावों को और उनके आदर्शों को जो रचनाएँ व्यक्त करती हैं उनसे जातीय चरित्र में दृढ़ता आती है। जो सचमुच कवि है वह अपने विकृत भावों की कल्पना से समाज को दूषित नहीं करेगा। हिन्दी की कविताओं अथवा कथाओं में हिन्दू-जाति के चरित्र की वह विशेषता प्रकट होनी चाहिये जिसके कारण उसका अभी तक अस्तित्व है।

रमेश ने कहा—तुम्हारा कहना सर्वथा उचित है। हिन्दी के कविता-क्षेत्र में मैथिली शरण गुप्त और उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द जी अच्छा मार्ग निर्दिष्ट कर चुके हैं, पर हिन्दी के लेखकों ने दूसरा ही मार्ग पकड़ लिया है। भारतवर्ष के सर्वसाधारण के चरित्र का प्रधान गुण है उनकी आध्यात्मिकता। सर्वसाधारण में धर्म-चर्चा ने जातीय चरित्र के इस गुण को आज भी उज्ज्वल कर रक्खा है, सच पूछिए तो हिन्दू के समान धर्म-भीरु जाति पृथ्वी के किसी अन्य देश में नहीं है। कोई भी हिन्दू संसार की यंत्रणा तथा शोक-दुःख से चाहे कितना ही पीड़ित क्यों न हो, उसे यदि कोई सान्त्वना देने जाय तो उसका कुछ न कुछ ऐसा भाव अवश्य प्रकट होगा जो बहुत ही गंभीर होगा। वह

उसके ज्ञान की नहीं, किन्तु अनुभव की सामग्री है और वह उसे अपने अन्तः करण की सामग्री समझ कर गौरव का अनुभव करता है। इस प्रकार की भावना, संसार की अनित्यता के सम्बन्ध में ऐसी दृढ़ धारणा, भगवान के प्रति अटल विश्वास, प्रेम और भक्ति, तथा भाग्य और अटल निर्भरता अन्य किसी भी जाति के जन-साधारण के हृदय में कभी नहीं स्थान पा सकी। यह न तो गवेषणा का फल है और न विद्वत्ता का। यह बहुकाल-व्यापी जातीय संयम और अभ्यास का फल है। योरोपीय जातियों में इस साधना का अभाव होने के कारण योरप तथा भारत के जन-साधारण में इस प्रकार की भिन्नता है। और यही कारण है कि योरप और भारत के लोक-साहित्य में भी असमानता है। योरोप के जन-साधारण के गानों में, बात चीत में और आमोद-प्रमोद में कभी-कभी ऐसे भाव तथा प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जो हमारी दृष्टि में उद्वेगजनक सी मालूम पड़ती है। इधर हमारे देश के जन-साधारण के प्रेम और भक्ति के कारण हमारे लोक-साहित्य में एक ऐसी भावुकता है जैसी कि योरोप के उच्च साहित्य में भी कम है। हमारे किसानों के गीतों में बहुत से ऐसे उच्च भाव हैं जिनका विश्लेषण करने से आध्यात्मिक तत्त्वों की उपलब्धि होती है। पर वर्त्तमान कवियों में उत्कट वासना की गन्ध है। यही नहीं, उसमें सर्वत्र कृत्रिमता है।

मैंने कहा—इसका कारण यह है कि हमारा शिक्षित समाज आज कल की कृत्रिम शिक्षा-दीक्षा के गुरु भार से धीरे-धीरे बलहीन और पंगु हो उठा है। वर्षों से शिक्षितों का जीवन पाश्चात्य शिक्षा के आदर्श से गठित हो रहा है। शिक्षा के आदर्श के साथ जातीय आदर्श का सामञ्जस्य न होने के कारण जीवन में संयम का लोप हो रहा है और उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। यही कारण है कि हमारे शिक्षित समाज में कृत्रिमता और अस्वाभाविकता आ गई है। उसमें सरलता का अभाव हो गया है। जो कृत्रिम है उसका विकास नहीं होता और जो स्वभावतः सरल है, उसमें कोई बन्धन नहीं है, वह उन्नतिशील है।

यदि शिक्षित समाज का आदर्श कभी जन-समाज में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकेगा तो हिन्दू समाज के लिये बुरा होगा।

हमारे आधुनिक कथा-साहित्य की ओर दृष्टि डालने से इस बात का स्पष्ट रूप से पता चल जायगा कि उसमें यह कृत्रिमता कितनी अधिक बढ़ गई है। अब यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कथाओं में प्रेम और वियोग की जो लीलाएँ प्रदर्शित की जाती हैं, उनसे सर्व-साधारण का कोई भी सम्पर्क नहीं है। कविताओं में अनन्त के लिए जो अभिसार की यात्रा की जाती है उससे दूर रहने में ही साधारण मनुष्य का कल्याण है।

रमेश ने कहा—मैं भी यह बात जानता हूँ कि हमारा आधुनिक कथा-साहित्य जन-साधारण से दूर होता जा रहा है। जन-साधारण के भाव और विचार-धारा से हमारे आधुनिक साहित्य सेवियों के भाव और विचार का व्यवधान क्रमशः बढ़ता जा रहा है, इसलिए आधुनिक साहित्य जातीय भाव, आदर्श और आकांक्षा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि वास्तविक जाति कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे वकील-बैरिस्टर, मास्टर, क्लर्क और सम्पादक में ही तो परिमित नहीं हैं। हिन्दू जाति की वास्तविक दशा जानने के लिये पर्ण-कुटीर में वास करने वाले अशिक्षित किसानों, जुलाहों, मजदूरों आदि लोगों के अभावों, आशाओं और आकांक्षाओं को जानना होगा। इन लोगों में धर्मनीति और सामाजिक मर्यादा की शिक्षा देने और उनमें तदनुकूल आदर्शों का प्रचार करने का काम किया है प्राचीन हिन्दू-साहित्य ने। उन्हीं के कारण सामाजिक व्यवस्था अभी तक संयत बनी रही, धर्म और नीति की मर्यादा भी अक्षुण्ण बनी रही। पर अब हिन्दी में ही नहीं, अन्य भाषाओं में ऐसे साहित्य का निर्माण हो रहा है जो इस मर्यादा को तोड़ डालना ही चाहता है। मेरा तो यही कहना है कि साहित्य एक-मात्र प्राचीन आदर्शों को ही नष्ट करने में लगा हुआ है।

महेश ने हँस कर कहा—"आप ही क्यों, आजकल कितने विद्वानों का कथन है कि आधुनिक साहित्य का प्रवाह हिन्दू-समाज के 'सनातन' घेरे को तोड़कर प्राचीन आदर्शों को अपने गर्भ में विलीन कर रहा है। इन आदर्शों का सम्बन्ध प्रधानतया स्त्री-जाति से है। प्राचीन आदर्श के पक्षपाती कहते हैं कि हमारी देवी-तुल्य स्त्रियों में पश्चिम के उच्छृंखल भाव एवं स्वाधीनता के आदर्श ला कर समाज का घोर अनिष्ट किया जा रहा है। जिन्होंने अपने निर्मल स्नेह की छाया में इतने दिनों तक प्रसन्नता-पूर्वक हमें सुख से रक्खा था, उन्हें व्यक्ति-स्वातंत्र्य की शिक्षा देकर समाज में उत्क्रांति पैदा करने की चेष्टा की जा रही है। आज तक स्त्री-जाति संबंधी किसी भी समस्या से हमारे समाज को चंचल नहीं होना पड़ा। अब कुछ लोगों की कृपा से उसकी भी सूचना हुई है। जिस पुण्य-भूमि में सती सावित्री और सीता ने जन्म-ग्रहण किया था, उस देश की स्त्रियों के हृदय-स्वर्ग से देव-भाव दूर किये जा रहे हैं और उनके स्थान में असुरों का ताण्डव-नृत्य आरंभ हो गया है। परन्तु"—इतना कह कर महेश कुछ रूक गये। मैंने पूछा—परन्तु क्या?

महेश ने कहा—इस अभियोग के मूल में यदि वास्तव में सत्य होता तो हम लोगों को यह स्वीकार करना पड़ता कि नवीन-साहित्य की स्वतंत्रता-मूलक भावना का प्रतिरोध करना ही हम लोगों का प्रधान-कर्त्तव्य है। किन्तु वास्तव में हमारे समाज में स्त्री-समाज संबंधी कोई समस्या नहीं है। जब बंगाल में कन्या के विवाह के लिये अल्पवित्त ग्रहस्थ को अपना सर्वस्व व्यय कर देना पड़ता है, जब बाल विधवाओं की करुण-कहानी किसी से छिपी नहीं है और तरह-तरह के कारणों से इस सीता सावित्री के देश में भी पतिता स्त्रियों की संख्या बढ़ रही है, तब क्या यह कहा जा सकता है कि हमारा स्त्री- समाज अच्छी दशा में है, या ये साहित्यिक ही इन समस्त नई नई समस्याओं की सृष्टि कर रहे हैं? इन लोगों का अपराध केवल इतना ही है कि वे

समाज के समस्त अत्याचारों तथा अन्यायों की ओर सबका ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, और कोई कोई सत्य एवं न्यायोचित व्यवस्थाओं की ओर भी संकेत कर रहे हैं।

मैंने कहा—आपको यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि प्राच्य और पाश्चात्य संसार में समस्या एक ही प्रकार की है। योरोप में—विशेषतः इंग्लैड में—गत आधी शत्ताब्दी से जो आन्दोलन चल रहा था, वह स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा के लिये था। उसका यह उद्देश्य था कि स्त्रियाँ सभी विषयों में पुरुषों के समकक्ष समझी जायँ। किन्तु इस समानता और समकक्षता का साधन केवल राजनैतिक क्षेत्र ही हुआ है। योरोप के सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में आज तक कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ।

महेश ने कहा—बर्नर्डशा उसी पारिवारिक जीवन के आदर्श का प्रचार कर रहे हैं। जब तक स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंध में अनौचित्य है, तब तक पारिवारिक जीवन की महत्ता तो दूर रही, वह संतोष जनक हो ही नहीं सकता। सामाजिक जीवन तो और भी गुरुतर एवं जटिल है। विवाह-विच्छेद और बिना विवाह के सन्तानोत्पत्ति के कारण पाश्चात्य समाज भी उद्विग्न है। सतीत्व एवं नारी धर्म का प्राचीन आदर्श तो समाज के इस भँवर में पड़कर डूबही रहा है। इधर कुछ लोगों का भी यही कथन है कि जब तक स्त्री-जाति अपने स्त्रीत्व का पूर्ण रूप से विसर्जन नहीं कर देती, वह पति, पुत्र समाज-धर्म, यहाँ तक कि समस्त कर्त्तव्यों से अपने को नहीं खीच लेती, तब तक उसका छुटकारा नहीं है। आज पाश्चात्य स्त्रियाँ यही आसाध्य साधन करने के लिये उद्यत हो रही हैं। अतएव, निस्सन्देह वहाँ की नारी-समस्या उग्ररूप से जटिल है।

मैंने कहा—बड़ी जातियों की इन सब बड़ी बड़ी समस्याओं की ओर से आँखें फेर कर जब हम अपनी ओर दृष्टिपात करते हैं तब हमें यही मालूम पड़ता है कि हम अच्छी दशा में हैं। हमारे घर में सुख

एवं समाज में शान्ति है। हमारी रमणियाँ सती-शिरोमणि हैं। वे पाश्चात्य महिलाओं की कहानी सुनकर कांप जाती हैं।

महेश ने कहा—यदि चिरकाल के संस्कार वश आपकी विचार-बुद्धि एवं हिताहित का ज्ञान पूर्ण रूप से विलुप्त न हो गया हो तो आपका यह भ्रम तुरन्त ही नष्ट हो जायगा और इस बात का पता चल जायगा कि हमारे इस स्वार्थमय आत्म-प्रसाद के मूल में अधिक सत्यता नहीं है। हमारे देश में भी स्त्री-समाज-संबंधी बहुत सी बातों पर विचार करना है। निस्सन्देह यह समस्या जीवन की चंचलता एवं स्वाधीनता की उद्दामता नहीं है। उसमें मृत्यु की नीरवता तथा बंधन की निर्जीवता देदीप्यमान है। नारी-समाज मृतवत् है। इधर एक तो हम लोग सीता सावित्री कह कर स्त्री जाति का स्तुति-गान कर रहे हैं और दूसरी ओर उन पर अत्याचार भी करते जाते हैं।

मैंने कहा—यह कैसा ? हिन्दू धर्म में शक्ति और विद्या की देवियाँ स्त्री हैं।

महेश ने कहा—आप चाहे कितनी ही जोर से इस बात की घोषणा क्यों न करें कि हम स्त्री जाति का सम्मान करते हैं, पर यह बिलकुल झूठ है। क्योंकि प्राचीन काल से ही हमारे देश में स्त्रियों का जितना असम्मान हुआ है, उतना कदाचित् किसी अन्य देश में नहीं हुआ होगा। मनु आदि के भी धर्म-शास्त्रों में नारी पूजा यथेष्ट है। किन्तु उसके साथ ही साथ स्त्री जाति को स्वतंत्रता से वंचित करके तथा तरह तरह की हीनता-व्यंजक विधियों तथा शृङ्खला में जकड़ कर उनका यथेष्ट अपमान भी किया गया है। इधर प्राचीन साहित्य में हम क्या देखते हैं—राजाओं में बहुपत्नीत्व तो नियम सा हो गया था। स्त्री का पति की सम्पत्ति के अन्तर्गत समझा जाना तो महाभारत से ही प्रमाणित है। यहाँ तक कि युधिष्ठिर ने द्रौपदी को जुए के दाँव पर भी रक्खा था। इसके अतिरिक्त स्त्री-चरित्र के संबंध में भिन्न भिन्न प्राचीन श्लोकों में जो कुछ लिखा है, उसकी चर्चा ही करना व्यर्थ है। हिन्दू, बौद्ध, जैन

सिक्ख आदि भारत के जितने प्राचीन धर्म हैं, उन सब में स्त्रियाँ नरक का द्वार या मूर्त्तिमती लालसा के रूप में चित्रित की गई हैं। तब भला उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है। बौद्ध-जातक एवं अवदानों में नारि चरित्र पर घोर कालिमा लगाई गई है। शंकराचार्य की "द्वारं किमेतन्नरकस्य नारी", गो० तुलसीदास की "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी" आदि उक्तियों और नारी-समाज को परदे के भीतर बन्द करके उसके प्रति जिस आदर एवं विश्वास का परिचय हम दे रहे हैं, उसकी तुलना और कहीं भी नहीं पाई जाती। अब आधुनिक साहित्य में ये बातें स्थान पा रही हैं। स्त्रियों की इस हीनावस्था का मार्मिक चित्र सबसे पहिले बंगाल के हेमचन्द्र ने अपनी रचना में खींचा है। शिक्षा-दीक्षा के अभाव से बंगाली स्त्रियाँ किस रूप में परिणत हो गई हैं, इस बात का उन्होंने जैसा वर्णन किया है, उसी प्रकार यह भी दिखलाया है कि हिन्दू दुराचारी पिशाच का रूप धारण करके स्त्रियों पर कितना अत्याचार कर रहे हैं। विधवाओं की दशा पर उनके हृदय में आंसुओं का संचार हुआ है। उन्हीं दिनों बंकिमचन्द्र अपने उपन्यासों में जो नारी-चरित्र अंकित कर रहे थे उन पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा था। जिस देश में पातिव्रत की शिक्षा देने के लिये सती के उपाख्यान प्रचलित थे उसी देश में बंकिम बाबू के उपन्यासों में लोगों ने देखा कि स्वामी यदि किसी अन्य स्त्री पर आसक्त हो जाता है, तो पत्नी उसे क्षमा करने के लिये तैयार नहीं है। पति के प्रेम से वंचित होने पर भ्रमर मृत्यु के मुख में गई, सूर्यमुखी ने गृह-त्याग किया और कुन्द-नन्दिनी ने विषपान करके आत्महत्या की। जिस देश में स्त्री को समस्त अनादरों एवं अत्याचारों का सहन करके पति-देवता के चरणों के आश्रय में रहने की शिक्षा दी जाती है, और जहाँ यही करना सनातन प्रथा के रूप में परिणत हो गया है, उस देश में स्त्रियों के ऐसे आचरण समाज के हितैषी पुरुषगण कहाँ तक पसन्द कर सकते हैं, इस बात

का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। परन्तु ऐसे समय में जब अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से देश में जो नया भावस्रोत उमड़ आया था, उसमें हिन्दू-समाज की बहुत सी सनातन प्रथायें ही डूबी जा रही थीं तब बंकिमचन्द्र के इस साहित्यिक अत्याचार को भी लोगों ने सह लिया—यहाँ तक कि धीरे-धीरे उनके अंकित किये हुए नारी-चित्र पूर्ण-रूप से स्वाभाविक भी माने जाने लगे। परन्तु साहित्य का काम यहीं समाप्त हो गया। केवल स्वामी का प्रेम प्राप्त कर लेने में ही नारी-जीवन की पूर्ण सार्थकता नहीं है। स्त्री की भी एक पृथक् सत्ता है। समाज या स्वामी उसे जिस साँचे में ढालना चाहे उसी सांचे में ढल जाना उसके लिये सर्वथा आवश्यक नहीं है। रवीन्द्र बाबू ने इस बात का प्रचार किया कि अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूर्णरूप से विसर्जन न करके आत्मोन्नति के प्रयत्न में सभी को अधिकार है। किंतु समाज इस बात को सुनने के लिये तैयार न था। कभी नारी की भी एक स्वाधीन सत्ता हो सकती है, ऐसी विपरीत बात हिंदू-समाज ने कभी नहीं सुनी। शरत बाबू ने तो स्त्री-जाति-सम्बन्धी समस्याओं को अपनी रचनाओं में व्यक्त कर दिया है। इससे चाहे कोई फल हो या न हो किन्तु यह बात तो अवश्य है कि निद्रित-समाज की सुख-निद्रा में आघात अवश्य पड़ा है।

रमेश ने कहा—समाज की सुख-निद्रा में बाधा आई या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता पर इतना तो मैं अवश्य कहूँगा कि आपके इस ज़ोरदार व्याख्यान से हमारे पड़ोसी जाग जावेंगे। इसलिये चाहिए यह कि यह विवाद यहीं समाप्त कर दिया जाय।

राजनांदगाँव में आने के बाद असिता से मेरा परिचय हुआ। वह मुझसे संस्कृत पढ़ने लगी। एक दिन वह मुझसे कह बैठी, "शायद आपको मेरे आचरण से आश्चर्य होता होगा।" मैंने कहा, "क्यों"? उसने कहा, "हिन्दू ललनाओं के संबंध में आप लोग जैसा सोचते हैं, मैं ठीक उसी तरह नहीं हूँ।" मैंने कहा, "यह तो कोई अचरज की बात नही है। अपनी उच्च शिक्षा का अभिमान रखने वाली सभी स्त्रियाँ हिन्दू ललनाओं के प्राचीन कुसंस्कारों को भूल जाने में ही अपना कल्याण समझती हैं।" उसने कहा, "स्त्रियों को ढोल, गँवार और पशु की श्रेणी में रखकर जो समाज एक मात्र ताड़ने के द्वारा उन पर शासन करना चाहता है, उसके कुसंस्कारों को भूल जाने में ही हम लोग सचमुच अपना कल्याण समझती है। परन्तु जान पड़ता है कि पुरुष को देव समझकर जो स्त्रियाँ उनके स्वामित्व को स्वीकार कर चुप-चाप उनका अत्याचार सह लेती हैं, उन्हीं को शायद आप आदर्श समझते हैं?" मैंने कहा, "नहीं, यह बात नहीं है। मैं हिन्दू समाज के दोषों को स्वीकार करता हूँ। परन्तु मैं यह भी देखता हूँ कि आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से हिन्दू स्त्रियाँ अपने स्वाभाविक गुणों को भी तिला-ञ्जल दे रही है। इतनी बात जरूर सच है कि शिक्षा केवल कुसंस्कारों को दूर नहीं करती, वह मनुष्य-मात्र को प्रकृति के सरल और विस्तृत पथ से हटा कर सभ्यता के कृत्रिम और संकीर्ण पथ पर ला देती है। क्या आप समझती हैं कि आप अपने स्वभाव के विरुद्ध काम नहीं कर रही हैं। स्त्री-जाति का अपमान करने का फल तो हिन्दू-समाज पा ही रहा है, परन्तु आप क्यों अपना स्वभाव भूल रही हैं?" उसने कहा, "विवाद में आप लोगों के पास यही तो एक अव्यर्थ शस्त्र है। क्या स्वाधीनता और स्वावलम्बन के भाव हम लोगों के स्वभाव के

विरुद्ध हैं ?" मैंने कहा, "स्वाधीनता और स्वावलम्ब की आवश्यकता ही आपको नहीं है। आप लोगों में ही तो हम लोग स्नेह, करुणा, दया और सहनशीलता को मूर्त्तिमान देखना चाहते हैं।" उसने कहा "स्नेह और सहनशीलता, यही तो स्त्री-जाति की दुर्बलता है।" मैंने कहा, "पुरुषों में भी प्रेम और त्याग है।" उसने कहा, "उनमें प्रेम उग्र वासना के रूप में है। जब प्रेम में एक मात्र उद्दाम वासना रहती है तभी उसमें संदेह और प्रतिहिंसा के उग्रभाव प्रकट होते हैं। ऐसे प्रेम में त्याग नहीं रहता है। वहाँ पुरुष अपने स्वामित्व का अधिकार छोड़ नहीं सकता। प्रेमिका होने पर भी स्त्री दासी ही बनी रहती है। बङ्किम बाबू की रोहिणी की तरह उसको जब पुरुष चाहे तब हृदय में स्थान दे और जब चाहे तब उसे दूर कर दे। ऐसे प्रेम पर स्त्री का अधिकार नहीं होता है। वह तो उसे भिक्षा के रूप में पुरुष से प्राप्त करती है।"

मैंने कहा, "यह आपकी नहीं, आधुनिक उपन्यास लेखकों की है। आपने इसे उपन्यासों से सीखा है।" उसने कहा, "अवश्य। आधुनिक समाज की सबसे बड़ी समस्या है, स्त्रियों और पुरुषों का पारस्परिक संबंध। सभी उन्नत देशों के साहित्य में कुछ ऐसे उपन्यास हैं जो इसकी चर्चा करते हैं। हिंदी के तो एक मात्र उपन्यासकार प्रेमचन्द्जी हैं। उन्होंने देश, जाति और समाज की समस्याओं पर विचार किया है। एक विद्वान् का कथन है कि जब समाज के भीतर से आघात एक दम से आकर हमारे हृदय पर पड़ता है और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में जब हमारा मन लौटकर उस पर आघात करने के लिये पुरातन संस्कारों को लेकर कुछ समझना-बूझना चाहता है, उस समय इसी द्वन्द्व को लेकर समस्या मूलक उपन्यासों की रचना की जाती है।"

मैंने कहा, "समाज का सबसे बड़ा प्रश्न स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध दाम्पत्य-प्रेम है। इसी एक भित्ति पर समाज रूपी अट्टालिका खड़ी है। हिंदू समाज ने इस प्रेम की रक्षा के लिये एक मर्यादा निश्चित कर दी

है। पर कई कारणों से वह मर्यादा टूट जाती है।

प्रेमचन्दजी की एक कहानी कुछ समय पहले किसी मासिक-पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। उसकी कथा यों थी;—एक हिंदू-दम्पती में बड़ा स्नेह था। स्त्री पुरुष को चाहती थी और पुरुष स्त्री को। किसी मुसलमान की कुदृष्टि उस हिंदू स्त्री पर पड़ी। उसने स्त्री को बहकाने के लिये मेहतर की सहायता ली। मेहतरों ने बड़ी धूर्तता से पति के हृदय में स्त्री के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया, और स्त्री के हृदय में पुरुष के प्रति विद्रोह-भाव। अन्त में यह हुआ कि स्त्री अपने पति के घर को छोड़कर चली गई। हिंदू-स्त्री का यह पतन किसी सामाजिक दोष से नहीं हुआ, इसका कारण है मानसिक प्रवृत्ति।" उसने कहा;"परन्तु, यही बात 'सेवा सदन' की सुमन के लिये नहीं कही जा सकती। वहाँ समाज का ही दोष है। सुमन को सबसे बड़ा आश्चर्य यह देखकर हुआ था कि देव-स्थानों में भी अच्छे लोगों के द्वारा वेश्याओं का यथेष्ट सत्कार किया जाता था। पुरुष जब संदेह वश अपनी स्त्री को घर से बाहर निकाल देता है तब उसका कारण यह नहीं है कि उसे व्यभिचार के प्रति घृणा है। यदि यह बात होती तो वेश्या का आदर न होता। उसे तो अपने प्रभुत्व का गर्व है। उसे यह सह्य नहीं है कि स्त्रियाँ उसके प्रभुत्व को स्वीकार न करें। योरप में भी समाज की यही समस्या है। उपन्यासकार उसी को व्यक्त करना चाहते हैं। वे सामाजिक सदाचार की परीक्षा करना चाहते हैं। यही कारण है कि आजकल चारों ओर से हमारे जीवन के सत्य को आवृत्त करके जो संस्कार फूल की पँखुरियों के समान विकसित हुए हैं, उन्हें नोचकर फेंककर उज्ज्वल सत्य को ग्रहण करने की शक्ति की परीक्षा हो रही है।"

मैंने कहा—"यह परीक्षा शहरों में ही बद्ध रहे। देहातों में शांति और सौंदर्य है।"

उसने कहा—"जो लोग कल्पना के रंगीन प्रकाश में संसार को देखा करते हैं, उन्हें संसार के वर्ण-वैचित्र्य में आनंद तो अवश्य मिलता

है, किन्तु वास्तविक जगत से उनका परिचय कभी नहीं होता। गाँव के हरे-भरे खेतों और सरल और शांत ग्रामीणों ने हमारे साहित्य में स्थायी आसन अवश्य पाया है किन्तु कल्पना के इस चित्र के साथ देहात के वास्तविक चित्र की विषमता कितनी अधिक है, यह जिन लोगों ने देहात का दृश्य देखा है, वे बड़ी सरलता से समझ सकते हैं। ग्राम-वासियों के सरल जीवन का मधुर सौंदर्य हमारे हृदय में सुख का संचार अवश्य करता है, किन्तु देहाती समाज का यथार्थ स्वरूप देखने पर वेदना ही होगी। देहात का यथार्थ दृश्य प्रेमचन्दजी के 'संग्राम' नाटक में है। उसमें एक ओर सरलता और प्रेम है, और दूसरी ओर लालसा, अन्याय और कुसंस्कार हैं।"

मैंने कहा—"पर, आप यह तो स्वीकार करेंगी कि हिन्दू-धर्म में सर्वत्र तपस्या का—आत्म-त्याग का आदर्श है। यह आदर्श हिन्दू ललनाओं के द्वारा आज तक सुरक्षित है। हिन्दू-गृहों में दाम्पत्य-प्रेम अभी तक तपस्या की सामग्री है। क्या आप इसे नष्ट कर देना चाहती हैं?" उसने कहा, "आपने कितने गर्व से कहा है कि हमारे जीवन में दाम्पत्य-प्रेम एक तपस्या की सामग्री है। स्त्री जाति की ओर से इस दाम्पत्य-संबंध की पवित्रता की रक्षा होने पर भी पुरुषों की ओर से यह सम्बंध कितना पवित्र बना रहा है, यह कहना आपके लिये भले ही कठिन हो, पर जानते आप भी हैं। केवल भाव के नशे में बैठे रहने से निद्रा या आवेश तो आता है और उससे पारमार्थिक तत्त्वों का ज्ञान भी हो सकता है, किन्तु यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि पार्थिव वस्तुओं के जानने के लिये यह अवस्था ज़रा भी वाञ्छनीय नहीं है। देखने में आता है कि समाज की निम्न-श्रेणी में विधवा स्त्रियों को बहुत आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता है, क्योंकि उनमें पुन-र्विवाह की प्रथा प्रचलित है। इधर हमारे देश के विपत्नीक पुरुष समाज-शासकों की दृष्टि में, अलंकार शास्त्र के कवियों के समान निरंकुश हैं। पत्नी की मृत्यु के बाद पुरुष का अन्य विवाह करना तो हमारे समाज

में इतना स्वाभाविक एवं साधारण हो गया है कि लोग स्त्री के साथ उन्नीस-बीस वर्ष तक जीवन बिताकर, उसकी मृत्यु के दो तीन महीने बाद अन्य स्त्री का पाणिग्रहण करके उसकी स्मृति को सर्वथा नष्ट कर देते हैं, उनका काम कितना गर्हित है, इस बात का अनुभव करना आज तक हमने नहीं सीखा। हमारे इस प्रकार की घटनाएँ प्रतिदिन हुआ करती हैं। विपत्नीक ही नहीं, जो सपत्नीक हैं वे भी अधेड़ अवस्था में नवयुवती के प्रेम का आस्वादन करने के लिये दूसरा ब्याह कर लेते हैं! अभिप्राय यही है कि यदि पति-पत्नी में दाम्पत्य प्रेम की जड़ पूर्णरूप से जम जाती, तो क्या पति के लिये अन्य स्त्री या पत्नी के लिये अन्य पुरुष का ग्रहण करना सम्भव होता? केवल स्त्री के ही अपरिसीम अनुराग से दाम्पत्य प्रेम नहीं होता, वरन पति-पत्नी दोनों का परस्पर एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक अनुराग ही दाम्पत्य-प्रेम है।

मैंने कहा, "स्त्रियों को पाश्चत्य शिक्षा देने का यही कुपरिणाम है। नहीं तो आजकल समाज में ऐसे उच्छृङ्खल विचार क्यों फैल रहे हैं?" उसने कहा, "यह बिलकुल सच है कि आजकल हिन्दू-धर्म में कुछ ऐसे विचार फैल रहे हैं जिन्हें आपके समाज के कितने ही वयोवृद्ध विद्वान् उच्छृङ्खल कहेंगे। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि नवयुवकों की इस विचारधारा को पाश्चात्य-शिक्षा का कुपरिणाम कह देने से काम नहीं चलेगा। साहित्य और समाज में स्वतंत्रता का जो भाव आया है वह युग-धर्म का फल है।" मैंने कहा, "युग-धर्म"? उसने कहा, "हाँ युग-धर्म। कोई ऐसा देश नहीं है जो युग-धर्म के प्रभाव से अपने को बचा सके। पहले जब पृथ्वी की एक जाति के साथ दूसरी जाति का, एक देश के साथ दूसरे देश का मेल जोल इतनी सरलता और गंभीरता के साथ नहीं हुआ करता था, उस समय भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार के युग-धर्म प्रकट होते थे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय योरप के साहित्य में जिस भाव की बाढ़ आई थी, क्या वह हमारे तत्कालीन समाज या साहित्य में अपना कुछ प्रभाव डाल सकी है?

किन्तु आजकल यदि किसी सभ्य देश में ऐसी भयंकर घटना हो तो यह कदापि सम्भव नहीं है कि उसका प्रभाव हमारे ऊपर न पड़े। जैसे जैसे सभ्यता का विस्तार होता जा रहा है, ठीक वैसे ही वैसे समस्त देशों में भावों का आदान-प्रदान हो रहा है। कालिदास के समय में उनकी रचनायें रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव, शकुंतला आदि एक मात्र भारत की सम्पत्ति थीं, किन्तु इस युग के श्रेष्ठ कवि किसी देश-विशेष के नहीं हैं, वे समस्त देश और समस्त जाति के हैं। इस प्रकार समस्त पृथ्वी ही एक विशाल परिवार या गृह के रूप में परिवर्त्तित हो रही है। यही कारण है कि पाश्चात्य-विचार-धारा को हम लोग अपना रहे हैं और इसीलिये पाश्चात्य और प्राच्य साहित्य में भावों की एकता है। यह युग-धर्म का ही फल है।"

मैंने कहा, "यदि युग-धर्म का यही फल है, तो क्या यह वाञ्छनीय है? मुझे तो यह क्षणिक उत्तेजना प्रतीत होती है। निर्वाणोन्मुख दीप-शिखा की भाँति यह बुझ जायगी।" उसने कहा, "समाज एक बड़ी भारी शक्ति है। जहाँ शक्ति है, वहीं गति है। युग पर युग जा रहा है, मनुष्य भी विचार-धारा के परिवर्त्तन के साथ ही साथ तरह तरह की अवस्थाओं में होकर अपने को प्रकाशित कर रहा है। आज देश में जो नवीन प्रकाश फैल रहा है। उसे दीपक बुझने के पूर्व ज्योति शिखा का भ्रम कहने का कोई भी कारण नहीं है। यह सचमुच नव जागृति है।" क्षणभर रुक कर फिर कहने लगी, "आज भारतवासी स्वाधीनता के लिये व्यग्र हैं। स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह, असवर्ण विवाह के प्रचार का प्रयत्न तथा और भी कई प्रकार के परिवर्त्तन आज इस देश में सम्भव हो रहे हैं। क्या यह जागृति के अतिरिक्त और भी कुछ कहा जा सकता है? अब हम समझ गये हैं कि वर्त्तमान युग के साँचे में अपनी जाति या समाज को ढाले बिना हम लोगों की रक्षा कठिन हो जायगी। यही कारण है कि आज हममें प्राचीन संस्कारों को ज्ञान और विचार की कसौटी पर परखने की इच्छा जाग्रत हुई है।" मैंने पूछा, "तो

आपका आदर्श क्या है ?" उसने कहा, "सब प्रकार की स्वाधीनता प्राप्त करना—विचार-स्वाधीनता और कर्म-स्वाधीनता। जिस दिन प्राचीन आदर्श ज्ञान और विचार की कसौटी पर, हमारे जीवन के लिये अनुपयोगी प्रमाणित हो जायँगे उस दिन उन्हें तोड़कर फेंक देने में हमें ज़रा भी कष्ट न होगा। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि प्रकृति के ध्वंसावशेष से एक नवीन आदर्श की सृष्टि होगी। परम्परागत विचार-धारा एवं युक्तिहीन संस्कारों की हमें आवश्यकता नहीं। हमें आवश्यकता है केवल स्वतंत्र, सरल और उदार हृदय की। स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य-सम्बन्ध की परीक्षा करने के जो विचार हमारे हृदय में जाग्रत हुए हैं, उनसे डरने की कोई बात नहीं है। आप यह मत समझिए कि आपके अन्तःपुर में विप्लव हो जायगा।"

यह कहकर वह हँसने लगी। मैंने भी हँसकर उस विवाद का अन्त कर दिया।

एक दिन मैंने बड़े गर्व से अपनी कुछ कविताएँ रमेश बाबू को दिखलाईं। मुझे विश्वास था कि मित्र की रचनाएँ समझकर वे उनकी कुछ प्रशंसा ही करेंगे। किन्तु रमेश बाबू ने इधर-उधर कुछ पन्ने उलटकर मेरी किताब रख दी और कहा—हिन्दी में कवियों का अभाव नहीं है, अभाव है उनकी रचनाओं के पाठकों का। मेरी समझ में यदि तुम स्वयं कवि बनने की चेष्टा न कर पाठक बनने की चेष्टा करो, तो उससे हिन्दी साहित्य का कुछ लाभ हो सकता है। उनकी बातें सुनकर मैं जल उठा। परन्तु कुछ उत्तर देते न बना। इसीसे मैं चुपचाप रह गया।

रमेश बाबू ने फिर कहा—सब कवि नहीं हो सकते। उसके लिये बड़ी योग्यता चाहिये। वैसी योग्यता कोई असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही पा सकता है। सच तो यह है कि कवित्व-शक्ति ईश्वर ही देता है उसे कवि अपने माता के ही उदर में लेकर जन्म लेता है। कवि बनाया नहीं जाता, वह तो पैदा होता है।

इसी समय अचानक महेश बाबू आ गये। उन्होंने रमेश बाबू का अंतिम वाक्य सुन लिया और हँसते-हँसते कहा—रमेश बाबू, सिर्फ कवि ही पैदा नहीं होते, हम और आप भी पैदा होते हैं। घोड़े, गदहे भी बनाये नहीं जाते; वे भी माता के उदर में गर्भ–वास की यातना सह कर जन्म लेते हैं। तब आप सिर्फ कवियों को ही यह यश क्यों देना चाहते हैं?

मैंने कहा—बात यह है कि मैंने गर्भ-वास के समय पिंगल-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। इसीसे मैं कवि होकर न जन्म ले सका। फिर भी जब मैंने कुछ कवितायें लिखने की धृष्टता की, तब रमेश बाबू ने मुझे स्मरण दिला दिया कि तुममें ईश्वर–प्रदत्त कवित्व शक्ति नहीं है।

रमेश बाबू ने हँसते-हँसते कहा—आप लोग मेरे शब्दों को पकड़ कर अपना पक्ष सबल नहीं कर सकते। क्या आप लोग यह नहीं मानते कि लोगों में एक स्वाभाविक प्रतिभा-शक्ति होती है।

महेश बाबू ने कहा—अवश्य। पर इस प्रतिभा-शक्ति पर एकमात्र कवियों का ही अधिकार नहीं है। मेरा तो यह कथन है कि सभी लोगों में—मनुष्य मात्र में—वह शक्ति विद्यमान है। यदि सभी लोग कवि, दार्शनिक या वैज्ञानिक नहीं हो सकते, तो इसका कारण कुछ परिस्थिति, कुछ देश, कुछ काल और कुछ दूसरों का प्रभाव है।

रमेश बाबू ने कहा—यह सच है कि मनुष्य की स्वाभाविक शक्ति के विकास में देश, काल और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, परन्तु इससे हम यह तो नहीं कह सकते कि स्वाभाविक शक्ति है ही नहीं या यदि है भी तो वह उपेक्षणीय है।

महेश बाबू बोले—आप तो विकास को ही देखकर उसकी मूल शक्ति का अनुमान कर सकते हैं। संभव है कि शेक्सपियर में वैज्ञानिक भी होने की शक्ति रही हो, पर एक विशेष परिस्थिति में पड़कर वह नाटककार हो गया। कालिदास के विषय में प्रसिद्ध है कि वह महामूर्ख था। उसमें किसी ने भी कवित्व का कोई लक्षण नहीं देखा था, पर वह अपने अध्यवसाय और परिश्रम से महाकवि हो गया। इसीलिये मैं मूल शक्ति को उपेक्षणीय समझता हूँ। किसान बीज को लेकर करेगा ही क्या, यदि उसके पास न उपयुक्त क्षेत्र है और न साधन।

मैंने पूछा—और यदि क्षेत्र और साधन रखकर वह बीज से वञ्चित हो तो?

महेश बाबू ने कहा—तो दूसरों के प्रभाव से उसे अनायास जो कुछ मिल जायगा उसी से वह अपनी फसल तैयार करेगा।

रमेश बाबू ने कहा—देखिए, इतना तो आप स्वीकार करेंगे ही कि जिसकी प्रवृत्ति एक ओर झुक गई है यदि दूसरी ओर—अपनी प्रवृत्त के विरुद्ध काम करेगा, तो इससे उसे सफलता नहीं मिल सकती।

महेश ने कहा—अवश्य।

रमेश बाबू ने फिर कहा—तब जिन की प्रवृत्ति कवित्व की ओर नहीं है उनकी कविताओं का क्या मूल्य हो सकता है ?

महेश बाबू ने कहा—यह मत कहिये रमेश बाबू। किसकी प्रवृत्ति किस ओर है इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। जब तक किसी का अन्त न देख लिया जाय तब तक उसके सम्बन्ध में कोई बात निश्चय पूर्वक नहीं कही जा सकती। देखिए, संसार में कवियों के नाम से भी जो प्रसिद्ध हैं वे सब एक ही कोटि में नहीं रक्खे जा सकते। उनकी रचनाओं से उनकी शक्ति का पता लगता है और तब हम उन्हें निम्न या उच्च कोटि के कवि मानते हैं। जो निम्न कोटि के कवि हैं वे भी तो कवि ही हैं। यह तो कहा नहीं जा सकता कि उनकी प्रवृत्ति कवित्व की ओर नहीं थी। उन्होंने आजीवन-कविता देवी की आराधना की, तो भी उनमें उच्च कोटि की कवित्व-शक्ति का विकास नहीं हुआ। पर इससे आप उन्हें कवि के आसन से हटा नहीं सकते।

रमेश बाबू ने कहा—ऐसे ही कवियों की रचनाओं को मैं व्यर्थ समझता हूँ। महेश बाबू ने कहा—तो आप किन कवियों की रचनाओं को ससार समझते हैं ? इतना तो आप मानते ही हैं कि सभी कवियों की रचनाओं में समान रूप से 'सार' विद्यमान नहीं है।

रमेश बाबू ने कहा—अवश्य। सब कवियों को हम तीन श्रेणियों में रख सकते हैं। प्रथम श्रेणी के कवियों की उपमा हम सूर्य से देंगे। उनकी दिव्य ज्योति से मानव जाति का असीम कल्याण होता है। उनके हृदय का अंधकार नष्ट हो जाता है। उनमें भ्रम या अज्ञान नहीं रह जाता। वे अपना यथार्थ रूप पहचान लेते हैं। उनमें अपूर्व उत्साह आ जाता है। मृत आत्माओं में नव जीवन का संचार हो जाता है। द्वितीय श्रेणी के कवियों को हम चन्द्र कहेंगे। इनका स्निग्ध शीतल और सुखप्रद आलोक होता है। ये मनुष्यों को यथार्थ सौंदर्य-पथ में ले जाते हैं। ये संतप्त हृदयों को शीतल करते हैं। तीसरी श्रेणी के कवियों

की तुलना ताराओं से की जा सकती है। जीवन-पथ पर भूले हुए, भटकते हुए मनुष्यों को इनसे बड़ा आश्वासन मिलता है। इनकी अल्प पर स्थिर ज्योति से उनमें बड़ा साहस आता है। इन तीन श्रेणियों के कवियों को छोड़ कर कुछ ऐसे हैं भी होते हैं जिन्हें हम कवि खद्योत कहेंगे। इतना कहकर रमेश बाबू मेरी ओर देखने लगे। मैंने कहा—रमेश बाब, आप कवि-खद्योतों की भी व्याख्या पूरी कर दीजिये। रमेश बाबू कहने लगे साहित्य के निशा काल में जब चारों ओर अन्धकार रहता है, ये प्रकट होते हैं। अन्धकार में ही इनकी अल्प ज्योति नष्ट हो जाती है। कितने ही ऐसे कवि प्रकट होते हैं और विस्मृत के गर्भ में चले जाते हैं। इन लोगों ने संसार के लिये किया क्या ? इनकी कृति से कब कोई उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ ? किसका हृदय उदार हुआ ? किसे सान्त्वना मिली ? इसीलिए मैं कहता हूँ कि कवि-खद्योतों का प्रयास निष्फल है।

मैंने कहा—यह बात केवल कवि-खद्योतों के लिए नहीं कही जा सकती। संसार में जितने क्षुद्र मनुष्य हैं सभी का यही हाल है। बुद्धू तेली ने जीवन भर तेल बेचा, उससे संसार की क्या उन्नति हुई ? कोदन साव ने मरते-मरते टूटे-फूटे बर्तनों की मरम्मत की ही चिन्ता की, उससे संसार का क्या उपकार हुआ ? रामू कहार का कौन कृतज्ञ है ? तब क्या इन लोगों का जीवन निष्फल है ? अच्छा, अपने जीवन को सफल करनेवाले, संसार को अपने उपकार-पाश में बद्ध करने वाले कितने हैं ? कितने बड़े बड़े कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और महात्मा हैं ? करोड़ों में केवल दो-चार निकलेंगे। तो क्या इन्हीं दो-चार लोगों का जीवन सफल है ? क्या संसार का बृहत् क्षेत्र इसीलिए है कि उसमें दो-चार लोग ही सफलता-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें ? क्या विधाता ने दो ही चार लोगों के लिए यह सृष्टि निर्मित की है ?

महेश बाबू ने कहा—नहीं साहब, बात ऐसी नहीं है। मिल्टन ने कहा है—They also serve who only stand and

wait। सैकड़ों लोग बड़े बड़े कामों में लगे हुए हैं। वे यदि ईश्वर की इच्छा-पूर्त्ति कर रहे हैं, तो हम भी जो यहाँ पड़े हुए हैं उसी की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। हम लोग भी उसी की सेवा कर रहे हैं। पर यह बात ठीक नहीं कि कवि-खद्योतों से संसार का कुछ उपकार नहीं होता। सच पूछो तो साहित्य की गति इन्हीं की रचनाओं से छिन्न नहीं होने पाती। इनसे साहित्य की भाषा में स्थिरता आती है, व्याकरण की पुष्टि होती है, समाज की रुचि परिवर्तित होती है और परिमार्जित भी। जब साहित्य-क्षेत्र में कोई महाकवि अवतीर्ण होते हैं तब हमें ऐसा ज्ञान पड़ता है कि ये आकाश में विद्युत् की भाँति प्रकट हो गये। पर बात ऐसी नहीं है। उनके पहले कितने ही क्षुद्र कवि उनके आने के लिये साहित्य में पथ बना जाते हैं। साहित्य के निशा-काल में कवि खद्योत जो महत्त्वपूर्ण काम चुप चाप कर रहे हैं उन पर हमारी दृष्टि जाती ही नहीं। पर वे उपेक्षणीय नहीं हैं।

मैंने कहा—देखिए रमेश बाबू, अब आपको इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं कम से कम कवि- खद्योतनी हूँ।

रमेश बाबू ने कहा—तथास्तु।